

category

ଶ୍ରୀକୃତ୍ୟାମାରାଜ୍ୟବିଜୟ

१९४८ दे
शीला का

किसके राम, कैसे राम

शैलेश मटियानी

लहर प्रकाशन

७७८, मुट्ठीगज, इलाहाबाद

सस्करण	१६६१
सर्वाधिकार	शैलेश माटियानी
आवरण	शिवगोविन्द पाण्डेय
प्रकाशक	लहर प्रकाशन
	७७८, मुट्ठीगज
	इलाहाबाद
लेजर टाइपसेटिंग	कम्प्यूटरकॉम
	इलाहाबाद
मुद्रक	सुलेख मुद्रणालय
	इलाहाबाद
मूल्य	सतर रुपये

भूमिका

राम का नाम अगर भारतवर्ष के सास्कृतिक-सामाजिक नेपथ्य से बाहर आकर, की राजनीति के केन्द्र में आ - या ले आया - गया है, तो इस पर मुँह बिचकाने से बचलेगा नहीं। देखना जरूरी होगा ध्यान से यह कि कारण क्या है। यानी कि राम के की यह उपस्थिति सिर्फ धार्मिक-राजनैतिक ही है, या कि इसके तार कहीं देश सास्कृतिक वितान तक भी जाते हैं ? क्योंकि धार्मिक-राजनैतिक उपस्थिति पर बिचकाने में कुछ हर्ज नहीं, लेकिन सास्कृतिक नेपथ्य पर मुँह बिचकाने में हर्ज है। सस्त ही देश की आत्मा हुआ करती है और सस्कृति से कटी राजनीति ही देश का नरक। वस्तु का एक नेपथ्य होता है और उसे इससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। देखा जाना चाहिये। बिना सास्कृतिक नेपथ्य की राजनीति का क्या हश्च होता है, यह के हाल के दृष्टात में देखा जा सकता है।

राम के नाम को तात्कालिक धार्मिक-राजनैतिक उफानों से पृथक, यदि देश सास्कृतिक नेपथ्य से जोड़कर देखना हो, तो तब देश की अवधारणा को पारदर्शी बन जरूरी होगा, क्योंकि सस्कृति को देश-काल के विराट फलक पर ही देखा जा सत है। जो देश या राष्ट्र की एक स्पष्ट पारदर्शी अवधारणा नहीं रखते, वो देश की राज भी नहीं कर सकते। हमारी मौजूदा राजनीति का देश के विराट की जगह, कुर्सी के से जुड़ा होना ही अध पतन का सबसे बड़ा कारण है।

आज अगर राजनीति का कोई राष्ट्रीय आधार नहीं रह गया, तो इसीलिए कि भी राजनैतिक पार्टी ऐसी नहीं, जिसके पास राष्ट्र या कि राष्ट्रीयता की कोई सम अवधारणा हो। भाजपा भी नहीं। उसका शीर्ष नेतृत्व राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता के बीच विभाजक रेखा को स्पष्ट करने में अभी अक्षम है। राष्ट्र की कोई पारदर्शी अवधारणा होना ही उसकी सबसे बड़ी अतर्बाधा है और इसे दूर करके ही वह राम के नाम राष्ट्रीय सदमों में देख सकती है।

4/ किसके राम, कैसे राम

राष्ट्र की अवधारणा से जाग राजनीतिबाजी ही देश का कुम्भीपाक बनी हुई है।

ऐसे मे देखना होगा कि राम के नाम की कोई राष्ट्रीय प्रासादिकता बनती भी है, कि नहीं, क्योंकि तभी हम यह भी निश्चित कर पाएँगे कि राम का नाम देश को शुभ है, या कि नहीं। और क्षदायित् निष्कर्ष बने कि शुभ है, तो इसे सिर्फ हिन्दुओं की परिधि तक नहीं रखना होगा, क्योंकि जो शुभ हो उसकी छाया सभी तक होनी चाहिये। और यदि तय हो कि राम का नाम देश को शुभ नहीं -अर्थात् यह देश को धर्माधना या कि अधराष्ट्रवाद के सिवा और किसी दिशा या सम्भावना मे ले नहीं जायेगा- तब कुशल इसी मे होगी कि इसे, यानी राम के नाम को, त्याग दिया जाय।

जिनका निष्कर्ष दूसरा बनता हो, वो अपना रास्ता तय करें। हमे यहाँ कहनी है सिर्फ एक बात और वह इन शब्दो मे कि कुछ नाम देश की अतरात्मा, अर्थात् सस्कृति मे गुथ जाते हैं और इन्हे बिना देश के चीथडे किये हटाया नहीं जा सकता। राम का नाम, भारत के सन्दर्भ मे, किसी धार्मिक पैगम्बर या पौराणिक ऐतिहासिक राजा का नहीं, बल्कि इस्म महादेश के पूरे सास्कृतिक-आचारित वितान आ आग है। गम का नाम हटान का भतलब सिर्फ मदिरों नहीं, बल्कि महाकाव्यों से लेकर लोरियों तक को हटाना होगा। बिना राम के भारत का सही उल्लेख असम्भव है।

कुछ लोग होते हैं, जो व्यतीत होते-होते, लुप्त हो जाने की जगह, आने वाले लोगों की घेतना तथा सवेदना से जुड़ते ही नहीं, बल्कि गुथते घले जाते हैं और जब यह सिलसिला शताब्दियों-सहस्राब्दियों की कालावधियों के भी पार तक घला जाता है, तो ये एक पूरे देश तथा समाज का ऐसा अतीत बन जाते हैं, जो वर्तमान ही नहीं, बल्कि भविष्य तक झिलमिल उत्पन्न करता है।

राम का नाम एक ऐसा ही नाम है और इससे मुँह बिचकाना, दरअसल, इस देश और सस्कृति से मुँह बिचकाना है। कुछ लोग देश, काल और समाज की सवेदना का आधार बनते-बनते पर्वतों, नदियों, सागरों और अरण्यों तथा भूमिक्षेत्रों की ही भाँति देश के नक्शे का आग हो जाते हैं। उन्हे देश के भूगोल-खगोल से हटाना असम्भव हो जाता है। ऐसा देश के सास्कृतिक हनन की कीमत पर ही किया जा सकता है। राम का भारत के नक्शे मे यही स्थान है।

राम का नाम नहीं लेने मे कोई हर्ज नहीं, इसे शर्त बनाना स्वाधीनता मे हस्तक्षेप होगा, लेकिन इस पर मुँह बिचकाने मे हर्ज है, अगर कि बात देश और सस्कृति से जुड़ी हो, क्योंकि कुछ भी सिर्फ वर्तमान मे नहीं होता। प्रत्येक वस्तु दिक्काल से है। देश भी। उसे उसके पूरे समय और समस्त दिशाओं मे ही देखा जा सकता है। देखा जाना चाहिये। राम भी भारत का दिक्काल है। शब्द को काल से नहीं विलगाया जा सकता और न ही स्थान से। इस दृष्टि से देखे, तो राम भारतवर्ष का 'महाशब्द' है, क्योंकि इसके क्षेत्र और समय की परिधियों पूरे देश से गुँथी हैं।

जिसे हम अस्मिता करके जानते हैं, वो सिर्फ हममे, या हमसे नहीं होती। अस्मिता के

तार अतीत से भविष्य तक जाते हैं। देश-काल से कटी अस्मिता सिवा अकाशबेल के और कुछ नहीं होती। अस्मिता का, व्यक्ति और नागरिक के तौर पर भी, एक व्यापक सास्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वितान हुआ करता है, क्योंकि हम एक जागतिक विराट से जुड़े हैं। हमारे तार देश-काल के उस विस्तार तक जाते हैं, जहाँ कि एक समय था कि हम नहीं थे और एक समय में नहीं होंगे, लेकिन हमारे होने के तार इन दोनों छोरों तक जाते हैं। हमारे वितन का मूलाधार देश-काल की यह अगाधता ही है। जिन्हें यह अगाधता जितने बड़े परिमाण में होती है, वो हमारी धेतना और सवेदना में उतनी ही अधिक दिलमिल उत्पन्न करते हैं।

राम भी इसी अगाधता का एक नाम है। राम हमारी सवेदना के हिमालय, समुद्र या आकाश की भाँति हैं। राम पृथिवी पर के सबसे प्रथम तथा सबसे महान् महाकाव्य की एक ऐसी अनुगृंज है, जिसे करोड़ों-करोड़ भारतीयों के जीवन में माँ के गर्भ से लेकर, चिता की अग्नि तक में सुना जा सकता है।

वो सारी वस्तुएँ देश और समाज की धरोहर हो जाती हैं, जो देश-काल की अगाधता, या कि सवेदना के विराट का प्रतीक बन जाएँ। राम उतने ही नहीं, जितना वाल्मीकि के सृजन में थे। राम में हमारी सहस्राब्दियाँ का प्रवाह जुड़ा है। जब भी कोई देश-समाज अपनी अस्मिता की टोह करता है, तब उन्हीं लोगों या वस्तुओं में अपना आपा खोजा जा सकता है, जिनमें देश-काल के प्रवाह गुथे हों। जिनमें अपन को सवित किया गया हो। जो हमारा सर्वोच्च अर्जन या सृजन हों।

राम का नाम भारतवर्ष का सबसे बड़ा ज्ञानकृतिक-सामाजिक आविष्कार है।

काल बीतता ही नहीं, सृजित और सवित भी होता है। ऐसे में, जो वस्तुएँ काल का पुज हो जाती हैं, उनका वितान पर्वताकार हो जाता है। राम भी पर्वत है और पर्वत को थूकने से भी कोई अंतर नहीं पड़ता। अब सवाल है यह कि राम का नाम हम किस- या कितने-अर्थ में लेते हैं ?

अर्थात् अगर राम का नाम हम इस महादेश के एक ऐसे राजाजिरु- सारकृतिक सृजन के रूप में लेते हैं, जो कि हमारे देश-काल की अतरात्मा की अनुगृंज है- जिसे कि लेते ही हम अपने को देश-काल तथा सवेदना के विराट में अनुभव करते हैं- जिसमें कि हमारा सहस्राब्दियों तक का आपा प्रतिबिम्बित होता है- तो कहा जा सकता है कि हमें हक है। -लेकिन इसे -यानी राम के नाम को -दूसरों की साँसत बनाने का हमें कोई हक नहीं।

ऐसे में देखना जरूरी होगा कि विश्व हिन्दू परिपद या कि भाजपा का राम का नाम क्या अर्थ रखता है। और कि कितना। राम भारतवर्ष का आध्यात्मिक सृजन हैं और अध्यात्म का विषय सिर्फ एक रहा है -स्वाधीनता। अर्थात् कुछ भी अत साध्य से ही मानने, या नहीं मानने की स्वाधीनता।

जो राम का नाम लेते हैं और जो राम का नाम नहीं लेते, इन दोनों में कोई भेद नहीं अगर कि वो इस देश से सवेदना और स्मृति के धरातल पर ठीक वैसे और उतने ही

6/किसके राम, कैसे राम

जुड़े हों, जितना कि राम का नाम लेने वाले, क्योंकि राम देश-काल की अनुगृंज हैं, स्वर्य देश-काल नहीं और देश-काल को इनके विराट से अलग नहीं देखा जा सकता। कौन और कितना ही महानतम व्यक्ति भी देश-काल का पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि देश-काल का एक ही पर्याय है- समाज।

आज भारतवर्ष मे वही समय नहीं, जो तब था। समाज भी नहीं। आज तो हमें देश की अवधारणा करते में अमीर खुसरो से लेकर रहीम-रसखान-गालिब-नजीर-भीर-दाग-जिगर और अलाउद्दीन खा- अमीर खा-बिस्मिल्ला खान आदि उन सभी के नाम भी जोड़ने होगे, जिन्होने राम का नाम घाहे लिया हो कि नहीं, लेकिन इस देश की सास्कृतिक विरासत को प्राणों का रस जरूर दिया है।

तब हमें भूलना नहीं होगा कि आज राम का नाम नहीं लेने वाले करोड़ों में हैं और वो राम का नाम लेने वालों की ही भाँति इसी देश-समाज का अग हैं। अर्थात् राम का नाम नहीं लेने वालों को कोई न इप्सेपहले देश-निकाला दे पाया, न आज दे सकेगा, क्योंकि जो भी पाकिस्तान बनेगा, बनेगा भारत के नक्शे में ही। आदमी और जमीन का रिश्ता बहुत गहरा है। आदमी को उखाड़ फेंकिये, तो जमीन का टुकड़ा भी उखड़ेगा जरूर। आज नहीं, तो कल। अगर कि आदमी की जड़ें उस जमीन में हैं।

कहन का तात्पर्य यही कि राम के नाम को इस महादेश के शुभाशुभ के सवालों से बाहर, या ऊपर ले जाकर नहीं देखा जा सकता, इसलिये अगर इसे हम अतरात्मा के विराट से बाहर, देश और समाज से जोड़कर देखना चाहते हैं- जो कि हमें करना ही चाहिये, क्योंकि देश, काल और समाज की चेतना से विहीन सिर्फ़ प्रेतात्माएँ ही हो सकती हैं- तो देखना होगा देश की कसौटी पर ही, क्योंकि कुछ भी किसी देश में ही उत्पन्न होता है।

राम का नाम भी।

ऐसे में, इतना तय है कि अगर हम राम का नाम देश की अवधारणा को पारदर्शी बनाने को लेते हैं, तो हम सही हैं। नहीं, तो सही नहीं है। आज जब राम का नाम राजनीति की धुरी बना दिया गया है, तो इसके सम्भावित खतरे भी होगे जरूर और इनके प्रति उदासीन हो रहना देश के हक मे होगा नहीं।

जाहिर है कि मुस्लिम सवेदना के धुवीकरण की प्रतिक्रिया में ही अतत हिन्दू सवेदना के धुवीकरण की मुहिम भी सामने आई है और इस मामले में विश्व हिन्दू परिषद या भाजपा को कोसने का उन राजनैतिक पार्टियों को कोई नैतिक अधिकार नहीं, जिन्होने देश को साम्प्रदायिकता और जातिवाद को आग के हवाले करते कोई सकोच कर्तव्य नहीं किया।

भारतवर्ष का रहा है, लेकिन देश की मौजूदा राजनैतिक पार्टियों में से किसी का भी वारित्र धर्मनिरपेक्षता का नहीं। यहों तक कि कम्यूनिस्ट पार्टियों का भी नहीं, जो कि अल्पसंख्यकों (अर्थात् इस्लाम) के मोहरे घलते-घलते, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को लात

मारकर, आज जातिसंघर्ष में सम्भावनाएँ खोज रहे हैं। जनता दल का हाल तो और बुरा है। उसके राजा साहब को यही पता नहीं कि जाति की राजनीति खेलना धर्म की राजनीति से अलग नहीं। और कि भाजपा की रथयात्रा का प्रस्थानबिन्दु उनके मण्डलवाद से ही प्रारम्भ हुआ।

राम का नाम आज भारत की सास्कृतिक-धार्मिक परिधियों से बाहर आकर, राजनीति की दुनिया में भी एक प्रभावी शक्ति का रूप लेता दिखाई पड़ रहा है, तो इससे सभी राजनीतिक पार्टियों को समान रूप से सबक लेना है- सिर्फ भाजपा को नहीं।

साफ शब्दों में कहें, तो कहना होगा कि इस्लाम के तुष्टीकरण और जातिवादी विग्रहवाद की राजनीतिक घालों को समेटकर ही राम के नाम को भी उस नेपथ्य में किया जा सकता है, जहाँ से कि इसे बाहर ले आया गया है। भारत की सास्कृतिक विरासत के उस नेपथ्य से बाहर आते ही राम का नाम रामबाण की शक्ति ले सकता है, अगर इतनी भी समझ इन राजनीतिक पार्टियों को नहीं, तो इसे सिवा नासमझी के और क्या कहा जा सकता है।

दीपक की जगह दीपक रखने को, पिण्ड की जगह पिण्ड रखना होता है। राजनीति इस नियम का अपवाद नहीं हो सकती। ऐसे में भारत की सभी राजनीतिक पार्टियों को आज नहीं, तो कल- कभी-न-कभी इस दिशा में पहलकदमी करनी ही होगी कि देश की कोई स्पष्ट अवधारणा की जाय, ताकि संविधान में सम्प्रदाय, धर्म और जाति की राजनीति के घोर-दरवाजों को बन्द किया जा सके।

देश की स्पष्ट अवधारणा करने की बहस में ही यह भी तय हो सकेगा कि किसी देश का अपनी अस्मिता से भी कोई वास्ता होना चाहिए, कि नहीं। और यदि होना चाहिये, तो इसके प्रतीक क्या होंगे ? अगर हम ऐसा नहीं कर पाते, तो तय है, कि हमें राम का नाम लेना आया नहीं। आज हमारे सामने सबसे गम्भीर और गहरा सकट आत्महीनता का है। हमें इस आत्महीनता से उबरने का संघर्ष करना ही होगा।

आज भारत की सबसे बड़ी विडम्बना आत्महीनता की है। लगता है, जैसे पूरे देश की ही आत्मा मर चुकी है। शताब्दियों की गुलामी ने हमारी आत्मा के तार तोड़ दिये हैं। हमें ऐसे प्रतीकों को खोजना ही होगा, जिनके सहारे कि हम अपने तार पूरे देश-काल से जोड़ सकें। हमें सबसे बड़ी जरूरत पारदर्शिता की है। हमें अपना अतीत देखना ही होगा, क्योंकि बिना अतीत के न वर्तमान को सही देखा जा सकता है, न ही भविष्य को। यह सिर्फ संस्कृति ही नहीं, बल्कि राजनीति की भी पहली जरूरत है कि हम अपने सम्पूर्ण परिदृश्य का आकलन करें। सास्कृतिक विरासत से कटी राजनीति में पारदर्शिता मर जाती है, क्योंकि उसका प्रवाह देश-काल के तीनों घरणों तक नहीं जा पाता।

अतीत, वर्तमान और भविष्य, ये काल ही नहीं, बल्कि आदमी और देश के भी घरण हैं। हमें ये तीनों झिलमिलाते हों, तभी हमारे कर्म की दिशा भी सही हो सकती है।

आदमी में पारदर्शिता नहीं, तो देश-काल में भी नहीं होगी, क्योंकि सब आदमी से निबद्ध है। राजनीति अगर आदमी को उसकी समग्रता में देखने से इकार करे, तो उसकी पारदर्शिता भर जाती है। उसमें देश, काल और समाज की आत्मा से रस लेने की शक्ति नष्ट हो जाती है। राम का नाम लेते ही हमारे सामने देश, काल और समाज का एक विराट उपस्थित होता है। भारत की जो राजनैतिक पार्टियाँ राम के नाम पर थोड़ा फुला लेना चाहती हैं, उन्हें सोचना ही होगा कि ऐसा करके वो दरअसल कर क्या रही है।

राम के नाम से कटना, कहीं-न-कहीं, इस देश के अतीत से कटना भी है। इसका अर्थ हुआ कि हमें देश का एक बहुत बड़ा हिस्सा दिखाई ही नहीं पड़ता है। याकि निहित स्वार्थों के तहत हम देश को सागोपाग देखना ही नहीं चाहते। यानी हमें पारदर्शिता नहीं रह गयी है। हमें कुछ भी सही और दूर तक दिखाई नहीं दे रहा है। तुलसीदास ने अगर कहा कि 'राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वर। तुलसी भीतर-बाहिरे, जो चाहसि उजियार।' तो इसीलिये कि उन्हें देश, काल और समाज की घेतना थी। वो अधियारे को देख रहे थे। और यह भी कि दीपक कौन हो सकता है।

राम का नाम निमित्त है। कृष्ण राम का ही उत्तरार्द्ध है। राम के निमित्त से अपने अधेरे-उजियाले हमें देखने ही होंगे। राजनीति में भी, क्योंकि राजनीति अब हमारी आत्मा की सरहदों तक थपेड़े मारने लगी। भौतिक विज्ञान ने उसके पजों को इतना पैना बना दिया है कि वह सस्कृति तक को नौंचकर फेंक सकती है। उसे मनवाहे तौर पर विकृत कर सकती है। उसे इतना ठस बना सकती है कि हमें उसमें अपना आपा दिखना बन्द हो जाय। हमारी मौजूदा राजनीति के यही सारतत्व हैं।

राम का नाम अपना आपा खोज सकने का निमित्त है। यह भीतर-बाहर पारदर्शिता उत्पन्न कर सकने का उपाय है। अगर नहीं, तो फिर यही कहना होगा कि- राम का नाम लेना व्यर्थ है, क्योंकि सस्कृति का पहला काम हमें हमारा आपा प्रदान करने का है। हमें पारदर्शिता उत्पन्न करने का।

देश की सास्कृतिक विरासत को पारदर्शी बनाना ही उसके राजनैतिक परिदृश्य को पारदर्शी बनाना भी हो सकता है। जो राजनैतिक पार्टियाँ अपनी सामाजिक-सास्कृतिक विरासत से कोई सबक नहीं लेती -या कि अपने देश, काल और समाज के वृहद् नेपथ्य को छोड़ देती हैं -उनकी कैसी भी क्रातिकारी विचारधाराओं का हथ्र क्या होता है, इसे पूर्वी यूरोप के हाल के घटनाचक्रों के आलोक में बखूबी देखा जा सकता है। रूस में पार्कस्वाद का सद्य पतन इसी तथ्य की गवाही है कि जो समाज, सस्कृति और परम्परा से रस लेना बन्द कर देते हैं, वो अतत काठ हो जाते हैं। चिटख जाते हैं।

राम का नाम भारत के सास्कृतिक-सामाजिक और भौगोलिक नेपथ्य का सर्वोच्च प्रतीक है और अगर आज इसे राजनीति के समर में भी ले आया गया है, तो मामले को ठीक से समझना जरूरी होगा, क्योंकि नाम हो कि काम, नासमझी किसी में ठीक नहीं। अर्थात् अगर बाकी की राजनैतिक पार्टियाँ राम के नाम पर मुँह बिघकायेगी, तो प्रकारांतर

से ये यही सिद्ध कर रही होंगी कि देश की आत्मा से इनका कोई वास्ता नहीं।

कहना जरूरी नहीं होना चाहिए कि यह भाजपा को ही इस देश की सास्कृतिक-राष्ट्रीय विरासत का एकमात्र सवाहक करार देना भी होगा। अर्थात् राम के नाम पर मुँह बिघकाना, हरहाल में, भाजपा की राजनीतिक जड़ों को खुराक पहुँचाना ही होगा। यह भी तय है कि अगर भाजपा राम को राष्ट्रीय सदर्भ बना ले, तो उसे हाशिये पर करना असम्भव होगा।

इस जगत में कुछ भी बिना आत्मा का नहीं। अगर हो, तो उसका शुमार प्रेत या खोखल में ही होगा। रस ही सबकी आत्मा है। बिना रस का न आलू अच्छा, न आकाश। संस्कृति ही देश और पृथिवी का रस है और स्मृति ही इसके सवहन का आधार।

राम का नाम देश की आत्मा का अविद्यित्व अग है और इसका राजनीति के क्षितिज पर बार-बार उद्धित होना भी इसी बात का साक्ष्य है, क्योंकि जैसा कि अनेक बार कहा कि राम के नाम को हाशिये पर नहीं हाला जा सकता। राम सिर्फ अयोध्या के राजा नहीं, बल्कि हमारी एक विराट सांस्कृतिक धरोहर का नाम है और संस्कृतिविहीन राजनीतिक पार्टियाँ सिर्फ राजनीतिक प्रेतों की ही भूमिका अदा कर सकती हैं।

प्रत्येक देश की आत्मा, अंतत, उसकी संस्कृति में ही प्रतिबिम्बित होती है।

जिसमें आत्मा न हो, उसमें अनुगूँज भी नहीं होती और काल के प्रवाह में सिर्फ वही टिक पाते हैं, जिनमें कि अनुगूँज होती है। राम का नाम, अपने महाकाव्यात्मक अर्थ में, भारतवर्ष की अंतरात्मा की अनुगूँज का प्रतीक होने से ही देश-काल के सहस्राब्दियों लम्बे प्रवाह में विद्यमान है। इसी तर्क से फिर कहना होगा कि राम का नाम नहीं लेने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन इस पर मुँह बिघकाने में हर्ज है।

ऊपर की बात को भारतीय बुद्धिजीवियों के सदर्भ में भी ध्यान से देखना होगा, क्योंकि राम के नाम पर मुँह बिघकाने वाले तथाकथित बौद्धिकों की संख्या बढ़ी है। राम के नाम पर मुँह बिघकाना जनतादी-प्रगतिवादी दिखने का साधन हो गया है। लेकिन जैसा कि बार-बार कहा- राम का नाम नहीं लेने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन राम के नाम पर मुँह बिघकाने में हर्ज है। ठीक उसी तरह, जैसे कि अगर हम खुदा, मुहम्मद साहब या ईसा का नाम पूरे आदर से लेते हों, तो बहुत अच्छा, लेकिन अगर नहीं भी लें, तो कोई खास हर्ज नहीं। किंतु इनके नाम पर मुँह बिघकाने में हर्ज है; क्योंकि यह प्रकारान्तर से इनसे आस्था और संवेदन के स्तर पर जुड़े करोड़ों-करोड़ लोगों की भावनाओं पर मुँह बिघकाना होगा। राम के नाम पर मुँह बिघकाने वाले तभाम तथाकथित जनवादी-प्रगतिवादी बुद्धिजीवी यहीं कर रहे हैं। वो भारत की जातीय संस्कृति, स्मृति और संवेदना पर मुँह बिघका रहे हैं।

जिस नाम को बनने में एक विशाल देश-समाज के हजारों साल लगे हों, उस पर मुँह बिघकाना विवेक या प्रगतिशीलता की गवाही देना नहीं। देश के सास्कृतिक नेपथ्य पर मुँह

बिधकाने वाली बौद्धिक उच्छ्वासलता एक निकृष्ट राजनैतिक हथकण्डा हुआ करती है। इसकी जड़ें सांस्कृति-शून्य राजनीति में होती हैं।

इस बात पर फिर जोर देना होगा कि राम के नाम के दुर्लपयोग को रोकने को इसके सांस्कृतिक नेपथ्य की पहचान जरूरी होगी। यह विचार और कलाक्षेत्रों के लोगों की जिम्मेदारी बनती थी कि भारत के उस सांस्कृतिक नेपथ्य को पारदर्शी बनाएँ, जो राजनीति को भी आलोक दे सकता है।

जैसा कि पहले भी कहा, सांस्कृति ही देश की आत्मा है, इसलिये सांस्कृति के सारे सवाल अतत देश की आत्मा के सवाल हैं। राम का नाम भी एक सवाल है। हमारे पास इसका जवाब क्या है?

रामजन्मभूमि में राम के करोड़ों की लागत का भव्य मंदिर बना जाना भी राम के नाम को उसके सांस्कृतिक नेपथ्य से जोड़ देना नहीं ही हो पायेगा, क्योंकि कुरान की यह हिदायत राम के सवाल तक भी बिल्कुल जायेगी कि जो स्थान इगड़े की जगह बन चुकी हो, वह खुदा की इबादत को माकूल नहीं हो सकती। दूसरों की छाती में घाव करके खड़े किये गए उपासनागृहों से कुर्सी की राजनीति भले ही घल निकले, देश के सवालों के जवाब नहीं खोजे जा सकेंगे। इसलिए अगर राम के नाम को हिंदुओं की आत्मा को जगाने को निमित्त भी बनाएँ, तो ध्यान रखना जरूरी होगा कि अतीत को जगाना अलग बात है- भूत को जगाना अलग। अतीत को जगाने को सांस्कृति के उन आरोह-अवरोहों की चेतना जरूरी है, जो राग उत्पन्न करते हों, खटराग नहीं।

अर्थात् राम के नाम को सम्भावना के अतिम क्षण तक हिंदू-मुसलमान के बीच के राग की सम्भावनाओं के तौर पर देखना होगा। खटराग भिटाने की हर सम्भव कोशिश करनी होगी।

वस्तु देश-काल से जुड़ी है। आज हमारे देश-काल का नवशा ठीक वही नहीं, जो रामराज्य के मिथक का हो सकता है। आज बाबर नहीं सही, लेकिन रहीम भारत की हकीकत है। राम के नाम को बाबरी जुनून से बचाने का एक ही रास्ता हो सकता है, इसे रहीम से गूँथ देना। अगर हम ऐसा नहीं कर पाये, तो राम के नाम को देश के काम ला नहीं पायेंगे।

जोड़ना ही सेतुबन्ध रखना है। हिंदू और मुसलमान के बीच का सेतु न राम के बिना बैठेगा और न रहीम के। इसलिए राम के नाम को उस मुकाम तक ले जाना जरूरी होगा, जहाँ वह रहीम से समरस हो जाय, क्योंकि जहाँ तक सांस्कृति का सवाल है, आज और भविष्य के भारत में सिर्फ वही सिक्का दूर तक घल पायेगा, जिसके एक तरफ राम हो, दूसरी तरफ रहीम। इस सांस्कृतिक गढ़न के बिना हिंदू और मुसलमान का सम्बन्ध टिकेगा नहीं।

इस्लाम को भारत के सांस्कृतिक नेपथ्य का हिस्सा बनाये बिना आगे का साझा

दिन-दिन कठिन होता जायेगा। इसलिए ही बार-बार इस बात पर जोर देना जरूरी लगा कि राम के नाम पर मुँह बिघकाना ठीक नहीं, क्योंकि दरअसल यह हिंदू-मुसलमान के बीच दरार डालना होगा। जैसा पहले भी कहा कि हर वस्तु देश-काल से निबद्ध है- इस्लाम इसका अपवाद नहीं हो सकेगा। अगर भारत के इस्लाम और मुस्लिम देशों के इस्लाम में कोई फर्क नहीं हुआ होता, तो हिंदू और मुसलमान के बीच का शताब्दियों तक का साझा असम्भव था।

धर्म, मजहब, शिक्षा या कानून- सबको देश के अनुस्प होना जरूरी है। इस्लाम को भी इसी नियम से जोड़ना होगा। जिस इस्लाम में बाबर की सत्ता राम से बड़ी हो, वह भारत में नहीं घलेगा। जिस इस्लाम में मुसलमानों के लिये अलग कानूनों की माँग हो, वह भी नहीं। भारत के हिंदुओं के लिये अलग कानूनों को भी कोई जगह नहीं होगी। नहीं होनी चाहिए। कानून में अलग होना ही, जमीन में अलग होना भी है, क्योंकि जमीन आदमी के सिर्फ बाहर ही नहीं, भीतर भी जमीन होती है और इसे बाहर की जमीन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। सस्कृति जमीन की इस एकात्मकता में से ही उदित होती है, क्योंकि वह देश की अंतरात्मा का काव्य है। और जो देश कानून में एक नहीं हो, उसका काव्य में पक होना असम्भव है; क्योंकि जहाँ आदमी दोफाड हो, वहाँ सस्कृति में एकात्मता सम्भव नहीं।

राम के नाम का सवाल भी अंतत भारत की जमीन का सवाल है। जमीन के मामले बहुत दूर तक जाते हैं। राजनीति इसे कोर्ट-कघहरी तक ले जाती है और सस्कृति काव्य तक! रामजन्मभूमि के सवाल को हम कहाँ ले जाना चाहते हैं?

इतना ध्यान रहे कि राम का नाम भारत का सास्कृतिक सत्य है। इस सवाई को नकारकर इस्लाम भारत की आत्मा में प्रतिबिम्बित नहीं हो सकेगा। यह बात दीगर कि आगे कभी भारत पूरा-का-पूरा पाकिस्तान बन जाय। इसलिए जब हम भारतीय संस्कृति की बात करें, और मानें कि संस्कृति ही देश की आत्मा होती है, तब राम के नाम के बिना काम घलेगा नहीं।

इस्लाम को भारत के सास्कृतिक नेपथ्य से अलगाना ही हिंदू और मुसलमान को अलगाना है। इसलिए रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद को भारत के उस सास्कृतिक नेपथ्य के आलोक में देखना जरूरी होगा, जिसमें राम के नाम की व्याप्ति लगभग वैसी ही है, जैसे फूल में सुगंध की। इसी अर्थ में राम का नाम भारतवर्ष की सांस्कृतिक सुरभि है। और यह सुरभि सिर्फ हिंदू को नहीं, इसका कबीर से बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

‘किसके राम, कैसे राम’ समय-समय पर के आलेखों-पत्रों का सग्रह है। अलग-अलग में लिखे-छिपे इन लेखों में कई त्रुटियाँ होंगी, पुनरावृत्तियाँ भी। कटु उकितयों से भी इंकार नहीं, लेकिन इरादा सिर्फ बहस का रहा और सद्यमुद्य जान सकने का।

‘चौथी दुनिया’ के प्रकाशन के दौर में भाई रामकृपाल ने जिस अपनापे के साथ

12/किसके राम, कैसे राम

अनेकानेक विवादास्पद लेखों का छापा, कृतश्चता प्रकट करना जरूरी होगा। 'अभिप्राय' के सम्पादक डॉ० राजेन्द्र कुमार के प्रति भी।

स्व० बहादुर साहब उन लोगों मे थे, जिनके सहारे कभी दुर्भिक्ष का कुछ समय कटा जिनसे दुख को सुने गये होने की प्रतीति हुई।

-शैलेश मटियानी

स्वर्गीय एफ० जे० बहादुर को कृतशतापूर्वक

अनुक्रम

किसके राम, कैसे राम	१७
रामायण पर चली कलमकटारी	२७
राम का नाम	४७
हिन्दू-मुसलमान का सवाल	५६
भारतीयता का समझ का इमामबाड़ा	७५
साम्राज्यिकता- विरोध की साम्राज्यिकता	८२
राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद	१०१
रामायण और रामवरितमानस के सांस्कृतिक अतरे	११७
चिट्ठी-पत्री	१३१

किसके राम, कैसे राम

बाबा साहब डॉ० भीमराव अबेडकर ने राम और 'रामायण' के बारे में ('हस' जनवरी १९८८) सिवा शूठ के और कुछ नहीं बताया, क्योंकि छिपाया ज्यादा, बताया थोड़ा है। वह भी सदर्भ से काटकर, या गलत जोड़ते हुए। कोई मोर के पख छिपाये, या पैर, कुल्ल मिलाकर यह मोर को छिपाना है और इसी से बना है मुहावरा कि- घोरों से मोर नहीं मरते।

सपादक 'हस' ने भी राम पर 'लीप-पोतकर तैयार मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार' की टीप लगाना जरूरी समझा है, बाबा साहब ने लीप-पोतकर जो 'घिनौना, अधम और लम्फट' राम तैयार किया, उससे गदगद है सपादक-'हस'। उन्होंने कृष्ण को मर्यादाभजक, अपेक्षाकृत अधिक मानवीय 'पूर्णपुरुष' मानते हुए, बाबा साहब अबेडकर के कृष्ण-मरण को 'हस' में नहीं छापा है।

जहा तक 'अपेक्षाकृत अधिक मानवीयता' का प्रश्न है, यह तर्क राम के पक्ष में ज्यादा जाता है। कृष्ण में योगपक्ष प्रबल है। वो पत्नी-वियोग में व्याकुल पशु-पक्षियों, वृक्षों-लताओं या नदी-पर्वतों से वैदेही का पता पूछते राम नहीं। कृष्ण पाड़वों के महाप्रस्थान और वश-विनाश तक को स्वयं की योगदृष्टि से झेलते योगेश्वर है- लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर विलाप करते राम नहीं।

वानर-भालुओं तक में तादात्मय अनुभव करते राम का सहज मानवीय रूप ज्यादा लौकिक है, आश्चर्य कि 'हस'-सपादक को इसमें एतराज है।

आइए, जरा बाबा साहब डॉ० भीमराव अबेडकर की 'राम-रामायण-मीमांसा' की झाँकियां देखें। बाबा साहब का कहना है -

'वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' के नायक हैं राम। रामायण की कथा बहुत सक्षिप्त-सी है। बिल्कुल सीधी-सपाट ऐसा कुछ भी नहीं, जो उत्तेजित कर सके।' (हस, जनवरी 1988)

उत्तेजना के लक्षण क्या होंगे? हाथ-पॉव फेंकना, घीखना-घिल्लना ही उत्तेजना के

लक्षण माने जायेंगे, या कि छूठ बोलना भी ? माना कि जो जितना बड़ा पड़ित, वह खुद की उत्तेजना को छिपाने की उत्तो हो चतुरता भी बरतेगा जरूर, लेकिन शब्दबद्ध हुआ करा छिपता है। 'रामायण' की कथा क्या सचमुच इतनी सीधी-सपाट है कि वाचक या श्रोता भी कही कोई हल्लाल उत्पन्न ही नहीं करे ? तब यह सपाट कथा देश-देशातरों, काल-कलातरों को पार कैसे कर गयी ? और 'बहुत सक्षिप्त-सी' से क्या इगत करना चाहते रहे होंगे, बाबा साहब ? सूर्य पृथ्वी पर से किनना सक्षिप्त-सा दिखाई पड़ता है !

'रामायण' मानवघेतना का सूर्यबिंब है, लेकिन जिसे आकार और गुण मिलाकर देखना नहीं आए, उसे कुछ भी सही देखना नहीं आता। सिर्फ आकार के आधार पर वस्तु का मूल्याकन वही करता है, जिसमें वस्तु को समग्रता में देखने की दृष्टि नदारद हो। देश, काल और समाज के नाना सोपान मात्र आकार से पार नहीं होने। रामायानियों और देश-देशातरों की सचहदों के पार वही वस्तु पहुंचती है, जिसमें कालजयी सार्वतत्व हों।

'रामायण' के बारे में अबेडकर साहब का फतवा मटूकोपाख्यान के सिवा कुछ नहीं। जिस रामकथा को लेकर तुलसीदास ने वाल्मीकि के हजारें वर्ष-बाद, 'पुनि-पुनि किननेहु सुने सुनाये। हिय की प्यास बुझत न बुझाये।' कहते हुए, 'रामर्यारितमानस' की रथना की-अफसोस कि कानूनमार्तड़ बाबा साहब को वह निहायत सपाट, सक्षिप्त और आकर्षणशून्य लगी। जाहिर है कि वस्तु आदमी के चरित्र से अर्थ ग्रहण करती है और जिसका जैमा चरित्र, वैसा राम अवश्यम्भावी है।

कोरा किताबी ज्ञान, कोई ज्ञान नहीं। हर वस्तु के दो छोर हैं। एक को ओझल करना, दूसरे छोर पर अधेरा फैलाना है। आकार ही नहीं, गुण, स्थ ही नहीं, अतर्वस्तु, उद्देश्य ही नहीं, परिणाम, स्थान ही नहीं, काल, और दिशा ही नहीं, दृष्टि को भी ध्यान में रखना ही ज्ञान है। ज्ञान मन मे जुड़ा है। जिसका मन उद्भ्रात, उसका ज्ञान भी विकृत होगा जरूर। उसकी दिशा और दृष्टि, दोनों में धूध होगी। वाल्मीकि ने एसी मनोदशाओं में राम तक को मोहग्रस्त बताया- बाबा साहब अबेडकर तो अबेडकर हैं।

आदमी के सारे कार्य-कल्प और ज्ञान-ध्यान एक इस बात से बधे हैं कि वह चाहता क्या है ? राम का चरित्र बताने के पीछे वाक्षा विकृत होने से मनोदशा भी तत्सम है। अपने मतलब-भर को पर्याप्त सामग्री चुनने की उतावली में 'आदौराम तपो वनादिगमनम्। एन्द्रि रामायणम्' का रास्ता चुना बाबा साहब ने। यह 'शॉटकट' ही उन्हे 'रामायण' की मनमानी कथा-सक्षिप्ति मे ले गया है। निहित उद्देश्य की उत्तेजना से चित्त इतना अस्थिर है, बाबा साहब का, कि पाडित्य की एकमात्र सिद्धि 'मारू घुटना, फोड़ू आख' मे दिखाई पड़ी है। जातिवादियों की जगह 'रामायण' और राम पर प्रहार करना, प्रकारातर मे, कट्टरपथियों के हाथों को मजबूत बनाना ही है, क्योंकि इससे उन्हें 'हिंदुओ, जागो !' घिल्लाते हुए हिंदू-समाज के सकटों को दूर करने के लिए जूझ रहे होने की आख बनाने का अवसर मिलता है।

वस्त का एक ही छोर खगालने की उतावली मे बाबा ज्ञाहत भल ही जाते हैं कि

महाकाव्य और कानून के बुनियादी तत्त्व एक नहीं। बाबा साहब ने रामकथा, भाष्य-समेत निबटाने को घार-पाघ 'फुलस्केप' कागज पर्याप्त समझ लिये। वाल्मीकि ने सिर्फ हनुमान के समुद्र-लघन और सीता की सुधि लेकर, राम तक वापस लौटने का ही वर्णन ६४ सर्गों में किया है। राम को सर्वाणीं के आराध्य के रूप में देखने का पूर्वग्रह बाबा साहब को राम की छवि के विद्वस की उत्तेजना में ले गया है। उनके पादित्य का लक्ष्य एक है- राम को पातकी सिद्ध करना। उन्हें भ्रम है कि राम ही सनातन धर्म का भेरुदड हैं और इसी पर पूरी शक्ति से प्रहार करना है।

सामान्य के भ्रम स्वाभाविक हैं, पडित के खतरनाक। बाबा साहब भुला ही बैठे कि काल ज्यो-ज्यो बीतता, त्यो-त्यो पर्वत होता जाता है और पर्वत पर लात घलाना स्वय के भेरुदड को सकट मोल लेना है। सहस्राब्दियों बीतने के बाद भी टिके होने से 'रामायण' भी पर्वत हो चुका। रामायण का उपहास करना खुद को हास्यास्पद बनाना है। हिमालय को 'महाकाल का अट्टहास' यों ही नहीं कह दिया कालिदास न। बाबा साहब के राम-रामायण-विवेचन में दिक्काल का बोध नदारद है। बुद्धि को लात मारने को ही लक्ष्यसिद्धि समझने लगना ठीक नहीं।

कुछ भी सवाल से ऊपर नहीं। राम भी नहीं, किंतु विद्वान् का काम दरार बढ़ाना नहीं। उसे समाज को जोड़ना है, तोड़ना नहीं। उसे इसी उद्देश्य से समाज को भी उसके खोखल दिखाना और हूठ छाटकर, सघ उजागर करना है। बाबा साहब का चूंकि उद्देश्य ही उलटा है, इसलिए परिणाम भी।

कौशल्या ने राम को श्रृंगी से अवैद्य संसर्ग- द्वारा उत्पन्न किया, इस 'नगन सत्य' को उजागर करते हुए, बाबा साहब बताने हैं कि- 'अरुचिकर (धिनौने) यरित्र वाले राम के जन्म से स्वर्विन्द्रिय और भी घटनाएँ हैं, जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। ('हस', जनवरी १९८८)

चूंकि कोष्ठक में 'धिनौन' शब्द के साथ 'हस'-सपादक की ओर से कोई टीप नहीं, इसलिए मानना होगा कि दोनों विशेषण बाबा साहब के हैं और उनके कथन से सिवा इसके और क्या ध्वनि निकाली जा सकती है कि चूंकि वाल्मीकि का स्वय का पूर्वजीवन अत्यत अरुचिकर तथा धिनौना था, इसलिए जब दस्युकर्म से किनारा कर काव्यसृजन का निश्चय किया, तो भी कामी राजा दशरथ के राम-जैम्य अरुचिकर, धिनौने और अप्राकृतिक-अवैद्य पुत्र को नायक चुना।

साफ है कि बाबा साहब का उद्देश्य 'रामायण' की मीमांसा नहीं, राम की छीछालेदार है और इस उत्तेजना में व भूल ही गये कि नाजुक स्थल खोजकर 'चंद्र' घलाना विद्वान् को शोभनीय नहीं। विद्वान की शोभा भव्यकर्ता में है।

कोरा किताबी ज्ञान कठज्ञान है। जैम्य दीमक सिर्फ कागज देखती है, काव्य नहीं, वैसे ही कठज्ञानी भी। उसे कुछ घेत नहीं रहता कि साध-विद्यार और तर्क से शून्य पादित्य

आखिर सारे समाज के जी का जजाल साबित होता है। बाबा साहब का राम और 'रामायण'-संबंधी कठशान अगर एक सामाजिक सास्त की शक्ल में कोड की तरह फूटा, तो इसके घिन पहले ही मौजूद थे। अलबत्ता जो हिंदू धर्म या सस्कृति की दुराई देना चाहें, उन्हें बाबा साहब के लिखे का जवाब लिखकर ही देना चाहिए, दलबंद विरोध से नहीं। जातिवाद के कोड से धर्म और सस्कृति को विकृत करने की ही एक स्वाभाविक परिणति है, बाबा साहब अंबेडकर का यह प्रतिशोध। इसका जवाब तर्क से देना जरूरी होगा, धृण से नहीं।

बहरहाल, देखा जाय अब जरा यह कि 'रामायण' में से राम के प्रसग में दुना क्या-क्या बाबा साहब ने। लगभग दुनीती देते हुए, उन्होंने कहा- 'क्या राम का व्यक्तित्व सद्यमुद्य पूजा के योग्य है ? जो लोग उन्हें ईश्वर की भाति पूजनीय मानते हैं, वे कृपया निम्नांकित तथ्यों पर विचार करें।'

इन निम्नलिखित (या निम्नकोटि के ?) तथ्यों में से एक तथ्य उन्होंने यह भी बताया है कि सीता राम की बहन थी ! उनका कहना है- 'बौद्ध रामायण के अनुसार सीता राम की बहन थीं। दोनों दशरथ की सतानें थीं। वाल्मीकि रामायण, बौद्ध रामायण में वर्णित सबध को स्वीकार नहीं करती। वाल्मीकि के अनुसार सीता विदेह के राजा जनक की पुत्री थी, अत राम की बहन नहीं थी, किन्तु यह स्वयं वाल्मीकि के अनुसार भी मान्य नहीं लगता, क्योंकि वाल्मीकि कहते हैं कि वह जनक की नैसर्गिक रूप से उत्पन्न हुई पुत्री नहीं थी, बल्कि किसी किसान को खेतों में हल जोतते हुए मिली थी, जिसे उसने अपने राजा जनक को भेट कर दिया और राजा जनक ने उसका पालन-पोषण किया। अतएव ऊपरी तौर पर ही सीता जनक की बेटी कही जा सकती है। बौद्ध रामायण की कथा स्वाभाविक लगती है और आयों के वैवाहिक नियमों के विपरीत भी नहीं जाती (आयों में भाई और बहन के बीच विवाह मान्य था) यदि वह कथा सत्य है, तो राम और सीता का विवाह कदाचित् आदर्श एवं अनुकरणीय नहीं। ('हस', जनवरी 1988)

आफरीन ! जहा तक राम का जन्म अप्राकृतिक तथा अवैद्य सिद्ध किया जा सकता हो, वहा तक तो 'वाल्मीकि रामायण' से भी काम चलेगा, लेकिन जहां सीता को राम की बहन दिखाना हो, वहा प्रमाण वाल्मीकि नहीं, 'बौद्ध रामायण' होगा ! वाल्मीकि ने अगर सीता को 'जनक की नैसर्गिक पुत्री' नहीं कहा, तो मान लिया जाये कि शायद, दशरथ की नैसर्गिक बेटी बताते-बताते रुक गये !

समझना कठिन है कि 'वाल्मीकि रामायण बौद्ध रामायण में वर्णित सबध को स्वीकार नहीं करती' कहकर, आखिर कहना क्या चाहा बाबा साहब अंबेडकर ने ? चूंकि बाबा साहब ने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया, तो इससे 'बौद्ध रामायण' वाल्मीकि रामायण से प्रामाणिक ही नहीं, बल्कि प्राचीन भी हो गई ? पहले त्रेता युग आया कि बौद्ध युग ?

बाबा साहब बौद्ध रामायण की अकालमृत्यु के कारणों पर नहीं जाना चाहते। गनीभत कि बाबा साहब की खोजी दृष्टि यहा तक नहीं गयी कि कन्या-विरक्ति के कारण दशरथ

ने ही सीता को अयोध्या के राजमहल से उठाकर, राजा जनक के खेतों में फिक्रा दिया! और बाबा साहब का दावा है कि 'रामायण' से कोई उत्तेजना नहीं मिलती। इससे ज्यादा और कितनी उत्तेजना मिलने से कान घलता बाबा साहब का?

धृणा का अदम्य विस्फोट है उनकी भाषा में। राम ही नहीं, वाल्मीकि के प्रति भी, जिन्होंने बौद्ध रामायण की ही भाँति, सीता को राम की बहन सिद्ध करने से इन्कार कर दिया। साफ लगता है कि बाबा साहब के घितदाह को गहरी ठंडक पहुंचती, अगर वाल्मीकि ने भी, बौद्ध रामायण के तथ्य की पुष्टि करते हुए, सीता को राम की जुड़वां बहन सिद्ध कर दिया होता।

बाबा साहब का कहना है- 'राम के घरिष्ठ का एक गुण यह भी बताया जाता है कि वह एक पत्नीक्रती थे। समझ में नहीं आता कि यह धारणा कैसे बनी? वास्तव में इसका कोई भी आधार नहीं मिलता। यहां तक कि स्वयं वाल्मीकि राम की कई पत्नियों होने का सदर्भ देते हैं (अयोध्याकांड, सर्ग-11। श्लोक -१-२) इन सबके अलावा उनकी अनेक उपपत्नियां भी थीं। इस मामले में वे अपने धोषित पिता दशरथ के सच्चे पुत्र थे, जिनकी ऊपर बताई गयी तीन ही नहीं, अनेक रानिया और भी थीं। ('हंस', जून १९८८)

सर्ग-३ क्या, पूरे अयोध्याकांड में वाल्मीकि ने राम की कई पत्नियों होने का कोई उल्लेख कहीं नहीं किया है, अन्यथा लिखना भूलते नहीं वाल्मीकि कि सिर्फ पटरानी सीता ने ही वन साथ जाने का निश्चय किया (यह तो बाबा साहब ने भी दावा नहीं किया कि वन जाते समय राम अपनी सारी पत्नियों-उपपत्नियों को त्यागपत्र थमा गये थे!) लगता है, बाबा साहब ने 'बौद्ध रामायण' के सर्ग-३ को (अगर ऐसा सदर्भ वहां हो) वाल्मीकि रामायण में प्रक्षिप्त करके, अपनी वांछा को तुष्ट करना चाहा है!

मोहग्रस्त बाबा साहब ने राम को भी दशरथ ही मान लिया और इसी से इन्हें कई पत्नियों-उपपत्नियों वाला (यानी 'धोषित पिता का सच्चा पुत्र!') करार दिया! हालौकि व्यक्ति की गुणवत्ता सिर्फ पत्नीक्रती होने, या नहीं होने से आंकने की वस्तु नहीं, फिर भी यहां बताना जरूरी होगा कि राम के एकपत्नीक्रती होने को लेकर, वाल्मीकि ने क्या कहा है। उत्तरकांड के सर्ग-११ श्लोक ७-८ में उनका कथन इस प्रकार है-

'राम ने सीता के सिवा किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया यहां में जब धर्मपत्नी की उपस्थिति आवश्यक हुई, रघुनंदन ने सीता की स्वर्ण-प्रतिमा प्रतिष्ठित करके कार्य पूरा किया।'

समझना मुश्किल है कि इससे और कितना ज्यादा स्पष्ट आधार द्याहिये था बाबा साहब को?

अलविता सीता के पृथ्वी-प्रवेश के लिए 'बौद्ध रामायण' तक की दौड़ नहीं लगाते बाबा साहब। यहां तो वाल्मीकि ने जैसे उनकी मनोवांछा को ही वाणी दे दी है। सीता के पृथ्वी की गोद में समा जाने के बर्णन को रामायण में से मनमाना खिलौना पा गये बट्ट्ये की-सी उत्फुल्लता में उछूत करते हुए, बाबा साहब बताते हैं- 'इसका अर्थ यह है कि अपने साथ

ऐसा पाश्विक व्यवहार करने वाले राम के साथ रहने की बजाय, सीता ने आत्महत्या को ही चुना था।'

'आत्महत्या' शब्द का प्रयोग बाबा साहब ऐसे करते हैं, जैसे सीता छाती में छुरा घोंपने के बाद राम को धिक्कारती धरती में समा रही हो, जबकि वैदेही कहती है- 'यदि मैं मन-वधन-किया तीनों से केवल श्रीराम की आराधना करती हूँ।'

बाबा साहब के उत्साह से तो लगता है कि अगर कहीं सीता धरती में न समा करके, राम के साथ अयोध्या लौट आयी होती, तो वे सीता को भी कभी क्षमा नहीं कर पाते।

राम को कल्पकित-लाभित करने का प्रत्येक अवसर बाबा साहब के वित्त को दैवी वरदान की-सी उत्कूर्लता से भर देता है। यह ध्यान उन्हें रहता ही नहीं कि वाल्मीकि ने राम को पत्नी-वियोग के लिए अभिशप्त मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही परिकल्पित किया था।

वैदेही साक्षात् सद्य है और उसके पृथ्वी में समाने के दृष्टांत से वाल्मीकि का इगत स्पष्ट कि कैसा भी चक्रवर्ती राज्य सत्य के सामने कुछ नहीं !

वाल्मीकि मादा क्रौंच की वेदना के साक्षी है। उन्हें वेदना और विषाद सारे राज्य-वैभवों से ऊपर है। विषाद ही मनुष्य को घेतना के क्षितिजांतों तक की महायात्रा में समर्थ करता है। दस्यु रत्नाकर से आदि महाकवि तक की जीवनयात्रा के सारतत्व को 'रामायण' में अंतर्गार्थित कर दिया वाल्मीकि ने। 'रामायण' के राम में वाल्मीकि की आत्मा का तेज अंतर्लयित है। ऐसा कालजयी पात्र किसी युगांतरकारी महाकवि की सृजनात्मक मेघा में से ही प्रकट हो सकता है और बाबा साहब हमें समझा रहे हैं कि राम-जैसा अरुद्धिकर, धिनौना, लम्पट और क्रूरकर्मा खोजना कठिन है।

राम के व्यक्ति और राजा रूप को लेकर भी बाबा साहब ने वही 'भीठ-भीठा गप्प और कडवा-कडवा थू' वाली पद्धति अपनायी है। सुग्रीव-बाली-प्रसंग की मनोवादित व्याख्या के बाद, तुरता शैली में, रावण-संहार तक की कथा बताते हुए बाबा साहब फरमाते हैं-

'रावण को मारने के बाद उनका यहला कर्त्तव्य बनता था सीता के पास जाना, लेकिन वे ऐसा नहीं करते। वे सीता से अधिक राज्याभिषेक में रुचि दिखाते हैं। राज्याभिषेक के बाद भी वे स्वंयं नहीं जाते।' बल्कि हनुमान को भेजते हैं।

राम कोई फिल्मी हीरो नहीं थे कि रावण के भूलूंठित होते ही, 'मैंने रावण को मारा तुम्हारे लिए !' गाते हुए, अशोक वाटिका की तरफ दौड़ लगाकर, अभिताभ बच्चन की शैली में सीता को आलिंगन में कम्स लेते ! आश्चर्य कि संविधान के सर्वोच्च शिल्पी कहे गये बाबा साहब को इतना भी होश नहीं कि राजधर्म का छाता होने के नाते, राम को अपने प्रत्येक कार्य-कलाप पर दृष्टि रखनी है। लंका अयोध्या का उपनिवेश नहीं। राजनय का तर्क है कि पहले विभीषण का राज्याभिषेक हो, तब अशोक वाटिका में उनकी अनुमति से कोई प्रवेश करे और यही राम करते हैं।

सीता के लांछलों के प्रसंग में भी जिस तरह सारे पूर्वापर तर्कों को ताक पर रखते हुए

राम की अधमता और कूरता सिद्ध करनी घाही बाबा साहब ने, उससे भी कुछ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'रामायण' का तर्क सिर्फ एक बन्ता है। या तो वाल्मीकि को प्रमाण माना जाय, या 'रामायण' की किसी भी बात को प्रामाणिक नहीं माना जाय। बाबा साहब के रुख से स्पष्ट है कि वो स्वामी दयानंद सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' की नकल में राम का भूतिंद्यंस घाहते हैं, लेकिन 'रामायण' वायदिर-कुरान-हंजील की तरह, धर्मग्रंथ नहीं। न धर्मोपदेशों की पोटली है। बाबा साहब का उद्देश्य हिंदू धर्म-विखंडन था, तो इस नेक काम के लिए उन्हें 'मनुस्मृति' की तरफ जाना चाहिए था। 'रामायण' महाकाव्य है और महाकाव्य हाथ साफ करने की कस्तु नहीं हुआ करते।

लगता है, बाबा साहब भूल ही गये कि रामायण धर्मग्रंथ या इतिहास नहीं, इनसे बड़ी धीज है। महाकाव्य में, आस तौर से धरित्र के सवाल पर, उसका रघ्यिता ही प्रमाण हुआ करता है। वाल्मीकि को प्रमाण मानने का तर्क होगा- राम के नर और नारायण, दोनों रूपों को मानना। महाकाव्य के सारतत्वों को उसके पूरे उपनावितान में ही खोजा जा सकता है, किसी एक कोने से अपने मतलब को पर्याप्त सामग्री ले उड़ना ठीक नहीं।

'रामायण' मनुष्य के लौकिक और अलौकिक, दोनों धुवों की परिकल्पना का महाकाव्य है, छिद्रबुद्धि से उसका भाष्य करना स्वयं की बुद्धि का भट्ठा बिठाना है।

सीता की अग्निपरीक्षा के प्रसंग में, वाल्मीकि बताते हैं कि- 'राजा राम का हृदय उस समय लोकापवाद के भय से विदीर्ण हो रहा था।'

सीता के समीप पहुँचते ही राम कहते हैं- 'जैसे आँख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती, तैसे ही इस समय तुम भी मुझे प्रिय नहीं लग रही हो।'

आश्वर्य कि राम के द्वारा स्वयं को आँख का रोगी और सीता को दीपक की ज्योति कहे जाने की वेदना बाबा साहब अंबेकर को स्पर्श तक नहीं कर पाती। उनका ध्यान इस तथ्य की ओर भी गया ही नहीं कि जब सीता राम से रोषपूर्वक कहती है- 'जैसे कोई नीद व्यक्ति किसी नीद कोटि की स्त्री से नहीं कहने योग्य बातें भी कह डालता है, उसी तरह आपने भी मुझ लांछित किया है।' (युद्धकांड सर्ग-११६ श्लोक-५)

तब भी राम चुपचाप धैर्य से सुनते और सहते हैं। वाल्मीकि ने अग्नि-परीक्षा के लिए धिता तैयार करने के आदेश से अर्मष में भरे लक्ष्मण के श्रीराम के हार्दिक अभिप्राय को समझते हुए शांत हो जाने का उल्लेख भी किया है। यही नहीं, उन्होंने सीता के अग्निदाह को अपलक देखते राम को 'धर्मात्मा राम' कहकर संबोधित किया (युद्धकांड सर्ग ११७ श्लोक ।)

वाल्मीकि के राम आर्तनाद करते जनों के बीच, वेदना के दावानल को सीता की ही भाँति वरण करते 'धर्मात्मा राम' हैं, बाबा साहब अंबेकर के मनोवांछित कूर और पापात्मा राम नहीं। बाबा साहब कहते हैं- 'स्वाभाविक ही था कि सीता ने राम को अधम और नीद कहा।' ('हंस', जनवरी, १९८८ पृष्ठ-१२)

कमाल है कि नीद और अधम कहना तो साफ सुनाई दे गया, बाबा साहब को,

लेकिन लोक-लोकातरों और जन्म-जन्मातरों तक श्रीराम की ही अद्वागिनी रहने की प्रार्थना के स्वर बाबा साहब के कर्ण-कुहरों में कभी नहीं पड़े । वाल्मीकि ने सीता के वरण और हरण से लेकर उन पर लोकलाल्हन, उनके वनत्याग तथा भूमि-प्रवेश का एक पूरा दृश्य- पटल निर्मित किया है, इसमें से मनमाने ढाँग से आधी-अधूरी कतरनों को ले उठना ठीक नहीं । वस्तु को प्रसगव्युत करना ही शूठ रघना है ।

वाल्मीकि कहते हैं - 'महात्मा श्रीराम का अधिकाश समय धर्म के पालन में बीता ।' (उत्तरकांड सर्ग ६६ श्लोक ॥)

बाबा साहब दावा रखते हैं कि शम्बूक-वध को छोड़, राम का सारा राज्यकाल मदिरा में मदमत्त, उरगा सुदरियों के सग विलास में बीता ।

वाल्मीकि ने कहा कि राम ने अपने हाथों से पवित्र पेय मधु सीता जी को पिलाया (उत्तरकांड सर्ग ४२, श्लोक १८) और कि-

'उस समय श्रीराम सीता के साथ सिंहासन पर ऐसे विराजमान थे कि अपनी तेजस्विता में !अरुधतीा के साथ बैठे महर्षि वसिष्ठ की सी शोभा थी उनकी ।' (उत्तरकांड सर्ग ४२ श्लोक २४)

लेकिन बाबा साहब ने कुछ ऐसा दिखाया है, जैसे राम, पवित्र पेय की जगह, ठर्रे की बोतल घटाकर उन्मत्त हुए पड़े हों ।

सीता की अग्नि-परीक्षा के संदर्भ में वाल्मीकि हमें बताते हैं कि- धर्मात्मा राम ने अग्निदेव को संबोधित करके कहा कि- 'ये (सीता) मुझसे उसी तरह अभिन्न हैं, जैसे सूर्य से उसकी प्रभा ।' लेकिन बाबा साहब को तो सिर्फ उतना ही उठाना है, किसी भी प्रसंग में जिससे उनकी उद्धारात तथा घृणाकूल मनोदशा को परितोष मिले ।

जिसे बाबा साहब क्रूरकर्मा लम्पट सिद्ध करने में ही मनोरथसिद्धि दूँढ़ रहे हैं, उन्ही धर्मात्मा राम के बारे में वाल्मीकि ने सीता की अग्नि-परीक्षा के उपरांत ही, समस्त देवांगर्वगणों के मुंह से ये उद्गार कहलवाये हैं- 'हे राम, आप संपूर्ण विश्व के सृष्टा, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, तीनों लोकों में सर्वव्यापी और आदिकर्ता स्वयंप्रभु हैं । आप श्रेष्ठतम परमात्मा तथा विराट पुरुष नारायण हैं । आपके नेत्रों का बंद होना ही रात्रि और खुलना ही दिनांरम है । आप पुराण-पुरुषोत्तम हैं । आपका दर्शन और स्तवन, दोनों अमाघ हैं ।

ऊपर के उद्धरण से हम यह सवाल उपस्थित करना चाहते हैं कि राम की अभ्यर्थना में कहे गये को एक तरफ छोड़कर, सिर्फ निंदा में कहे गये कथनों को ही प्रमाण मानने का तर्क क्या होगा ?

वाल्मीकि ने राजा के रूप में भी राम को नवाबी छाँटते कहीं नहीं दिखाया । बाबा साहब ने वाल्मीकि रामायण का कौन-सा पाठ पढ़ा, कहना मुश्किल है । गीता प्रस, गोरखपुर, बाले संस्करण के उत्तरकांड सर्ग ४२ के श्लोक १ या ८ में कहीं वैसा वर्णन नहीं, जो बाबा साहब ने उपस्थित किया है । उनके अनुसार तो आधा दिन भी धार्मिक धर्या भै आधे भन से ही बिताते हैं राम, जबकि वाल्मीकि बतात है कि राम का अधिकाश जीवन प्रजा-कल्याण में बीता । सवाल है कि 'रामायण' के मामले में प्रमाण किसे माना जाय-

वाल्मीकि, या कि बाबा साहब को ?

रामराज्य का विशद वर्णन यहां उद्भूत करने की जरूरत नहीं । बाबा साहब नहीं बताते कि एक कामुक, कूरकर्मा और राजका से सर्वथा उदासीन, मध्यधुत हो अंत पुर में लोट लगाने वाले शासक के गज्य में ऐसा लाकराज्य संभव क्योंकर हुआ । वाल्मीकि ने कहा है-

रामा रामो राम इति प्रजानाम भवत्कथा रामभूतं जगद्भूतं रामराज्यं प्रशासितं
(वृद्धकाण्ड सर्ग १३८ श्लोक-१०२)

बाबा साहब सिर्फ शबूक-बध का प्रसंग उठाते हैं- राम के द्वारा निषादराज गुह को अपनी आत्मा के भ्रमान मानने का जिक्र नहीं करते । राम लंका- विजयोपर्वात अपने पिता दशरथ से एकन्मात्र प्रार्थना केकल्यी तथा भरत के प्रति शाप वापस लेने की करते हैं- बाबा साहब का राम की इस करुणा का उल्लेख व्यर्थ है । मानवीय करुणा से उनका तात्पर्य भावविगलितता मे है, जबकि वाल्मीकि राम के निषित से बताना धाहते हैं कि जो जितना पुरुषात्म, उसके ताप भी उतने ही बड़े होंगे । राज्याभिषेक के मुहूर्त में तापसजीवन का वरण और फिर राज्यागेहण के साथ ही लोकापवाद की यातना- राम बार-बार धृंधग्रस्त हात मूर्च्छ है । उनका विषाद महाकाव्य का विषाद है । 'रामायण' का सारा काव्य-वितान 'सीता-राम' पर टिका है । जनमानस में सीताविहीन राम की कोई स्मृति नहीं । बाबा साहब ने 'रामायण' की उस महाकाव्यात्मक संवेदना को पूरी तरह आँखाओँझल कर दिया है, जो सीता को परित्यक्ता नहीं, बल्कि अनंतकाल तक की अद्वागिनी बना देती है । हिन्दू समाज के लिए सीता-राम अविद्युत हैं, तो इसका भी कारण होगा जरूर ।

जहां तक 'रामायण' की सामाजिक प्राभागिकता का सवाल है, समाज मूल्य-रूप में कुछ भी बहुत छान-फटकार ही बद्या रखता है । शबूक-बध राम के धीरोदातत कार्य का प्रमाण कभी नहीं बन पाया । सीता-परित्याग के प्रसंग से 'राम' जिस रूप में मान्यता कभी नहीं मिली । अपकर्म महापुरुषों के द्वारा किये जाने पर भी अपकर्म ही रहता है ।

देखा जाय, तो शबरी और निषादराज गुह के प्रति राम का जो आत्मभाव दिखाया है वाल्मीकि ने, उसे देखन शबूक-बध भर्तिन-दिशा से १ दिन, लगता है । यह पूरा प्रकरण ही भी अपाट । यह भी आश्यद्य की बात है कि देवदी के परित्याग के प्रकरण में धीरी भद्र की काली करतूल का कोई जिक्र नहीं करते बाबा साहब । उनकी आँख निरंतर सिर्फ राम के प्रवाद खोजने में लगी रहती है ।

बाबा साहब की जातिवादी धैतना जितनी उद्दीप्त, सामाजिक भ्रमण उतनी ही धृंधली है । समाज का तक, साद-सार को छटोरकर, धोये को उड़ा देने का रहता आया । बाबा साहब का जोर सार को धूरे पर फेक, कूड़ा छक्कना कर रहा न है ।

गरीबी और प्रताङ्गना की धूल मे से प्रतिष्ठा के उर्ध्व शिखरों तक के अथक पुरुषार्थ से दीप्त विद्वान् का यह विकास पाठ्य अत्यंत दृष्टिवाला है क्योंकि जिस तक्षणात्मी से बाबा

साहब ने राम को नीच, धिनौना और लपट सिद्ध करना चाहा है- ईसा, मुहम्मद साहब, बुद्ध और गांधी को भी लाभित कर सकते हैं लोग।

उदात्त पर एकत्रफा भिट्टी डालना जाहिलों का काम हुआ करता है। विद्वान् वह है, जो दोनों छोर उजागर करे। बाबा साहब हमें कुछ नहीं बताते कि राम के लपट सिद्ध हो जाने से कौन-सा महान् सामाजिक उद्देश्य पूरा हो जायेगा। अपने अर्थ और असंतुलन में उन्हें यह धेतना कही रहती ही नहीं कि सामुदायिक सद्भाव की पहली शर्त दूसरों के स्वेदनों तथा विश्वासों पर घाट नहीं करना है। सर्वर्ण होने का दावा रखने वाले कट्टरपथी जातिवादियों के जधाब में अवर्णवाद का जहर घोलना, जाने-अनजाने, वर्णसंघर्ष की भूमिका रचना है। जबकि जरूरत जातिवाति कट्टरपथियों को हाशिये पर करने की है, पूरे हिंदू समाज को जाति-वर्णवाद की दावागिनि के हवाले करने की नहीं।

हम फिर कहेंगे कि 'रामायण' धर्मग्रन्थ नहीं, महाकाव्य है और महाकाव्य मानव-धेतना के दोनों छोरों तक जाता है। बाबा साहब ने सिर्फ एक छोर खँगाला और वह भी धार्मिक प्रतिशोध की उत्तेजना से व्याकुल व्यक्ति के रूप में, यह उन-जैसे मनीषी को शोभनीय नहीं ही कहा जा सकेगा।

लगता है, जातिवादी कट्टरपथियों की कुर्सा के प्रति विक्षोभ में, उन्हें बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहा कि महाकाव्यों का भाष्य इस तरह की कठबुद्धि से सम्भव नहीं। 'रामायण' आदि ही नहीं, सनातन महाकाव्य है। लोकाधार, राजधर्म, मानव-संघर्ष और सौदर्य का ऐसा महाकाव्यात्मक सधान दुर्लभ है। अफसोस कि बाबा साहब की नजर, राम-रामायण-भी-स्मा के मामले में, कांख में का मैल खोजने तक ही सीमित रही। 'रामायण' का ऐसा मखोल मतिभ्रश के सिवा और किस बात का सूधक माना जाये ? क्योंकि अगर हम 'रामायण' की मीमांसा, या उसके भाष्य के मामले में बाबा साहब को विद्वन् मानें, तो वाल्मीकि को मूर्ख मानना जरूरी होगा।

रामविरितमानस में बाबा तुलसीदास ने कहा है- जाकी रही भावता जैसी। प्रभु मूरति तिन देखी तैसी ।।

बाबा साहब के प्रति गहरे आदर के बावजूद, इतना कहना होगा कि काव्य का अर्थ बहुत दूर तक जाता है। और जिसका जैसा मतव्य, वैसा ही राम उसे प्राप्त हाना है। जबकि राम कोई मात्र धार्मिक पैगम्बर नहीं, बल्कि भारतवर्ष की ऐसी महान महाकाव्यात्मक उपलब्धि हैं, जिसमें भारत के आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक और भौगोलिक तक सारे सारतत्व अंतर्गत देखे जा सकते हैं। राम भारतीय स्मृति की महानतम धरोहर हैं। वाल्मीकि ने उन्हें व्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्ति और विराट के सेतु के तर्क से रखा है।

रामायण पर चलौ कलमकटारी

इलाहाबाद

१६ अगस्त, १९८८

राजेन्द्र भाई,

'हस' के संयुक्ताक १९८८ में आपका लेख 'सत्ता का छद्द या छद्दरात्मकता का सत्य' पढ़कर हतप्रभता ही अनुभव की है।

'रामायण'- मानस वैराग को लेकर पहले कभी बहस में नहीं पड़ा, क्योंकि इसके लिये विषय का गहरा ज्ञान जरूरी है, जो पास नहीं। ह्यर हिन्दी के अनेकानेक लेखकों को 'रामायण' पर एकाएक गहरी बेचीनी के साथ लिखते देखा, तो ध्यान गया। पढ़ने और समझने का एक अवसर पा गये होने के अहसास में सधमुद्य ध्यान से देखने की कोशिश रही कि देख, 'रामायण' पर हमारे इन प्रतिष्ठित लेखकों का कहना क्या है।

दूरदर्शन पर 'रामायण' के प्रसारण ने एक ऐसा अवसर उपस्थित किया, जिससे कि पत्रिकाओं और अखबारों में प्रतिक्रियाओं का सिलसिला शुरू हुआ। यूकि हिंदू-मुस्लिम दगों के मर्दमें हिंदू साम्प्रदायिकता का सवाल पहले से ही बहस के केन्द्र में था, ऐसे में एक पत्ती कृति के दूरदर्शन पर प्रसारण को लेकर प्रतिक्रियाएँ होना स्वाभाविक था, जो कि हिंदू समाज का मेलदण्ड मानी जाती रही है। जिसमें कि निरक्षर से लेकर विद्वानों तक को आकर्षित करने की शक्ति रही है। जो देश-काल की छलनियों में छलते-छलते, एक व्यापक ज़िरो अस्मिता और स्मृति की एक ऐसी धरोहर बन गयी है कि इसके निमित्त ये उसकी अंतरात्मा की धड़कने मापी जा सकती हैं।

लेखक से अपेक्षा की जाती है कि एक वही है, जो कि किसी भी वस्तु को प्रधलित, स्थापित या मान्यता-प्राप्त नहीं, बल्कि प्रासंगिक होने, या नहीं होने के तर्क से देखेगा। ऐसे में 'रामायण' को लेकर, इसके प्रति धार्मिक अनुराग अथवा आस्था रखने वाले लोगों तथा लेखकों की प्रतिक्रिया के समान होने की अपेक्षा उद्धित नहीं हो सकती थी। संयोग से भारतीय दित्तन में कुछ भी तर्क से ऊपर नहीं। यहाँ असहमति को कुफ नहीं माना गया है।

अनेकानेक विकृतियों के बावजूद, आज भी यह खुलापन उपस्थित है। और जब तक है, तभी तक है स्वस्ति भी।--- किन्तु क्या यह आवश्यक होना चाहिये कि बहस का खुलापन एक ऐसे मनमानेपन की शक्ति ले ले, जहां उद्देश्य वस्तु को विकृत अथवा विरूपित करने के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं पड़े ?

‘रामायण’ की कथा को जिस प्रकार राज्य के लिये हत्या-प्रतिघात की सामती प्रवृत्ति की एक सामान्य कहानी बताया है आपने, और यहां तक अनुमान की हूट ली है कि राम को लव-कुश के द्वारा गला दबाकर पानी में डुबो (या आत्महत्या को बाध्य कर) दिया गया था, इससे कई सवाल सामने आते हैं। सबसे पहले यही कि उद्देश्य क्या है ? यानी कि ‘रामायण’ की कथा को एक निहायत बर्बर तथा घटिया सामती कहानी करार देकर, आप कहना और करना क्या चाहते हैं ?

‘रामायण’ को लेकर हिंदू समाज के संवेदनात्मक लगावों से आप भलीभांति परिचित हैं। जाहिर है कि पहले पुत्रों या रानियों में से ही किसी के द्वारा दशरथ और फिर, इसी ‘पैलेस इट्रीग्ज’ की तार्किक परिणति के तौर पर, लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण की हत्या किये गए होने का शोशा छोड़ते हुए आप हिंदू समाज के संवेदनों पर पूरी ताकत से प्रहार करना चाहते हैं- और इसीलिये यह सवाल अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है कि उद्देश्य क्या है ?

यह मानना तो गलत होगा कि आप-जैसे पहली कतार के लेखक को विकृतियों और संवेदनों के बीच का अतर पता नहीं --- लेकिन जहाँ तक इस लेख का सम्बन्ध है, इसमें हिंदू समाज की विकृतियों की जगह, उसके संवेदनों पर कोई फटकारना ही आपका मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है ; क्योंकि आपके लेख में कहीं किसी एक जगह भी ‘रामायण’ की सास्कृतिक या सामाजिक प्रासारिकता अथवा हिंदू समाज के जातीय संस्कारों में उसके सकारात्मक प्रतिनिष्ठन का कोई उल्लेख कराई नहीं और कहीं नहीं है।

विकृति के निराकरण की पहली शर्त सुकृति की पहचान है। खराब की जगह सही दाँत को उखाह या रूपण की जगह स्वस्थ गुर्दे को निकाल फेंकने का काम वही खतरनाक डाक्टर करता है, जो विकृत और स्वस्थ की पहचान तय करने से ज्यादा, संहस्री और हूर्सी-कैंधी घलाना जरूरी समझता हो। लेखक जब किसी कृति के सांगोपाग अध्ययन और विश्लेषण की जगह, उसके अंग-भंग पर उतर आता है, तो उसकी दृष्टि ‘घोड़ा डाक्टर’ से भी बदतर हो जाती है। लेखक से तो यह अपेक्षा की जाती है कि वह अगर किसी भानू कृति पर लिखेगा, तो उसकी अंतर्वस्तु और सारतत्वों को हमारे निमित्त इतना पारदर्शी बना देगा कि हम भी गहरे उत्तर सकें। हमारी भी समझ विकसित हो सके। हम भी अनुभव कर सके कि कैसे कोई भानू कृति मनुष्य की घेतना के समग्र क्षेत्रिज वितान को हमें भी गोदार बना देती है। अफसोस कि आपका लेख ‘रामायण’ के बारे में सिवा ‘घंघुविक्षेप’ (घोड़बाजी) के और कुछ नहीं। लेखक को जरूरी है कि अगर वह पृथिवी पर लिखने बैठे, तो सिर्फ कीदृढ़ ही नहीं फतफताये।

उजागर करे। हालोंकि प्रकट में आप भी अतीत के वर्तमान पर हावी होने के दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित करते दिखाई पड़ना चाहते हैं, लेकिन थोड़ा-सा ध्यान से देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह एक निहायत ही चालाक किस्म की कोशिश-मात्र है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सदुदेश्य के लिये शूठ का सहारा कभी नहीं लेगा। शूठ एक भयानक विकृति है और यह शुद्ध सफेद शूठ कि लव-कुश ने राम-लक्ष्मण को या तो गला दबाकर सरयू में डुबो और या 'आत्महत्या' को बाध्य कर दिया था। यह खुद के विकृत अनुमान को लोगों की संवेदना से ऊपर ले जाना है। आप दावा करना चाह सकते हैं कि सरयू में 'आत्मविसर्जन' की बात तो स्वयं वाल्मीकि स्वीकार करते हैं^१ आपने सिर्फ इतना अनुमान और लगाया है कि धूंकि राज्यसत्ता के सर्वर्ष में पिता-द्वरा पुत्र, भाई-द्वरा भाई अथवा पुत्र-द्वरा पिता की हत्या ज्यादा प्रामाणिक हुआ करती है, इसलिए 'आत्मविसर्जन' वाली बात तो मिथ्यालेपन-मात्र है। यानी आपने और कुछ नहीं किया, बल्कि वाल्मीकि के द्वरा वास्तविकता पर लगाई गई पलोथन को छाड़ दिया है।

कुछ भी कह डालने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन बताना जरूरी होगा कि कहे की गवाही क्या है ? रोमिला थापर जब 'रामायण'- सम्बन्धी शोध के सिलसिले में बताती हैं कि भिन्न-भिन्न रामायणों, अनुग्रंथों या जनश्रुतियों में रामकथा के कौन-कौन से रूप प्रचलित हैं- और कि अनुमानत इनके आधार क्या हो सकते हैं तब उद्देश्य और कार्य के बीच कोई विसंगति नहीं। लेकिन जब आप अतीत के वर्तमान की सव्याई बनने के खतरों के प्रति सावधान करने की आड लेकर, रामकथासम्बन्धी स्वय के अनुमानों को प्रकट करते हैं, तो सिवा ८०- मानविक-बौद्धिक विकृति के और कुछ आभासित नहीं होता, क्योंकि आपके घोषित उद्देश्य और कार्य के बीच कोई संगति नहीं है। आप अपने स्वत स्फूर्त अनुमानों के लिए किसी तरह के साक्ष्य की कोई जरूरत ही नहीं अनुभव करना चाहते और जान-बूझकर एक ऐसा शूठ खड़ा करते हैं, जो कि वैद्यारिक खुलेपन नहीं, बल्कि स्वद्वंद मनमानेपन का सूचक है।

हिन्दू समाज ने 'रामायण' का सारतत्व इस रूप में ग्रहण किया कि राज्यसत्ता ही सब-कुछ नहीं, बल्कि इससे कहीं ऊपर वो नैतिक मूल्य है, जो पारम्परिक, पारिवारिक तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धों अथवा मूल्यों के रूप में मान्य होते चले आये हैं।--- और आप बता रहे हैं कि 'रामायण' का सारतत्व हत्या की राजनीति है, राजनीति की नैतिकता नहीं। इसका मतलब हुआ, पिछले हजारों वर्षों तक हिन्दू समाज में कोई भी व्यक्ति इतना बुद्धिमान और खोजी नहीं हुआ, जो कि 'रामायण' की ऐसी प्रामाणिक अथवा ऐतिहासिक व्याख्या कर पाता।

यानी 'रामायण' में वो सारे नैतिक-सामाजिक मूल्य कहीं वास्तव में थे ही नहीं, जिनकी कि हिन्दू समाज के द्वारा कल्पना कर ली गई। और अब पहली बार 'रामायण' की अतर्वस्तु का एक प्रामाणिक आलेख हमें 'द्वन्द्वात्मकता का सत्य'^२ के द्वारा सुलभ हो

रहा है। लक्ष्मण ने राम के वनवास पर कुपित होकर 'हनिष्ये पितर वृद्ध' कह दिया, तो यह प्रमाण हो गया कि जगल जाते मे दशरथ की हत्या की व्यक्तिया करते गये। जब अनुमान से ही तय होना हो, तो इतना और जोड़ लेने में या हर्ज था कि दरअसल दशरथ की हत्या तो लक्ष्मण ने तभी वनवास पर जाते समय कर दी थी, वो तो सामर्ती कूटनीति या 'पैलेस इट्रीज' के तहत लाश को कई दिनों तक छिपाये रखा गया और मृत्यु-घोषणा सुमत के लौटने के बाद ही की गई।

इतना मान लिया जाना चाहिए कि यदि आपके लेख में के तथ्य सच हैं, तो तय है कि आपने हिंदू जाति को हजारों वर्षों के प्रचलित शूठ से उबार लिया है, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि शूठ के ऊपर पड़े पार्मिक-सास्कृतिक आवरण निहायत खतरनाक ही हो सकते हैं और जितने लम्बे समय तक बने रहें, उतनी ही गहरी क्षतियाँ अवश्यम्भावी हैं। लेकिन सवाल फिर यही कि क्या वास्तव में शूठ का पलोथन ही छाड़ा गया है? शूठ नहीं, बल्कि उसकी पलोथन को छाड़ने का काम हुआ है, इसके लिए बताना जरूरी होगा कि वाल्मीकि ने ऐसा क्यों किया? यानी पहले रानियों या पुत्रों में से किसी के द्वारा राजा दशरथ और फिर 'पैलेस इट्रीज' की स्वाभाविक परिणति के तौर पर लव-कुश के द्वारा राम की हत्या की वास्तविकताओं पर पर्दा डालने के पीछे वाल्मीकि का इरादा क्या था? लेकिन पहले तो तय करना जरूरी होगा यह कि 'रामायण' को हम इतिहास मानें, महाकाव्य या कि धर्मग्रंथ?

आप कहते तो जरूर हैं कि- 'आम भारतीय मानैस न जाने कब से व्यक्तित्व और सामूहिक रूप में राम-कथा के साथ सांस लेता रहा है। वह उसका संस्कार है। इतिहास द्याहे न हो, संस्कृति जरूर है।'

लेकिन आपके लेख से अत तक स्पष्ट नहीं होता कि 'रामायण' को आप मानते क्या हैं। पूरी तरह स्पष्ट नहीं किये जाने के कुछ स्पष्ट कारण होंगे जरूर। उनमें से एक यह सावधानी भी हो सकता है- यौंकि 'रामकथा' के तीनों धरातल 'इतिहास, संस्कृति और मुकितदाता धर्मग्रंथ' एक-दूसरे में गड्डमड्ड हैं और आपस में संक्रमण करते रहे हैं।

[राजेन्द्र यादव 'हस'- संयुक्ताक १६८८]

दूसरा यह घतुरता कि कुछ भी स्पष्ट तौर पर मानने से हाथ बध जायेंगे। तब इतिहास कहने पर ऐतिहासिक साक्ष्यों की जरूरत होगी। महाकाव्य मानने पर भावनात्मक विश्वासो और आस्था पर घोट करने के अवसर हाथ से निकल जायेंगे।-- और 'धर्मग्रंथ' मानने पर सिद्ध करना होगा कि जो 'रामायण' को नहीं माने, वह हिंदू नहीं रह सकता। जबकि घोट सामाजिक कुरीतियों नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वासों पर करनी है।

यौंकि 'रामायण' को इतिहास, धर्मग्रंथ या 'महाकाव्य' मानते ही हाथ बध सकते हैं, इसलिए 'रामायण' के इतिहास, संस्कृति और धर्मग्रंथ तीनों धरातलों पर परस्पर सक्रमित होते रहने की घतुरोक्ति की आड़ लेना ठीक नहीं, क्योंकि कृति 'निधारित वस्तु' है। ऐसे समय बिल्कुल हो सकते हैं, जबकि इतिहास, संस्कृति और धर्म के सारतत्व आपस में टकरा या धुल-मिल रहे हो, लेकिन सक्रमण की यह प्रक्रिया किसी कृति में ज्यो-की-त्यो

घलन में नहीं बना रहती। कृति द्वारा ही उसमें प्रयुक्त इतिहास कृति की अतर्वस्तु का एक स्थिर तत्व बन जाता है। उसके तथ्य हालत या सही हो सकते हैं, लेकिन ये कृति- या कृति के पाठ- में धर्म अथवा स्स्कृत के साथ सक्रमण की प्रक्रिया में नहीं रहते, क्योंकि समाज के सबेदनों के दायरे में सस्कृति और धर्म का ठीक वही रूप नहीं रह जाता, जो इतिहास का। इसलिए खुद के द्वारा सस्कृति, धर्म और इतिहास में किये जा रहे घालमेल को 'इतिहास, सस्कृति और मुकितदाता धर्म के आपसी सक्रमण' का जामा ओढ़ाना उद्धित नहीं। घालमेल (क्षेपक) और सक्रमण एक ही वस्तु नहीं।

आपने, अपने लेख का आरम्भ ही इस सुन्नवाक्य से किया है कि--

'रामकथा इतिहास नहीं, काव्य है। कोई एक काव्य भी नहीं- काव्यों और महाकाव्यों का हजारों सालों में फैला सिलसिला।'

यह तो हमें भी पहली बार जानने को मिला कि 'रामायण' कोई एक महाकाव्य नहीं, बल्कि काव्यों-महाकाव्यों का हजारों सालों में फैला सिलसिला है। हालाँकि आपके लेख में 'रामायण' के काव्य या महाकाव्यात्मक कृति के रूप में देखे गये होने की गवाही कहीं नहीं। और न ही आपका तात्पर्य 'रामायण' के पश्यात के रामकथासम्बन्धी महाकाव्यों से है। लेख में तो 'रामायण' को पैलेस-इंट्रीग वाली सामती कहानियों का पुलिंदा ज्यादा सिद्ध किया गया है।

रामायण को सामंती पैलेस इंट्रीग का पुलिंदा करार देते हुए, आप लिखते हैं-

'आल्हा-उद्दल का एक प्रसंग हो या दस, वही घटाइयां और लड़ाइयां हर बार दुहराई जाती हैं, इसलिए राम-कथा भी सत्ता और सिंहासन की लगभग वैसी ही लड़ाई है, जैसी महाभारत। दशरथ के घार बेटे हैं, लेकिन दो दलों में बंटे हैं। महलों में ठीक वही स्थिति है, जिसे 'पैलेस इंट्रीग' कहा जाता है और दुनिया का हर महल जिनसे 'गुलजार' रहा है। गतयोक्ता कौशल्या और सुभित्रा एक तरफ हैं और छोटी युवा रानी कैकेयी दूसरी तरफ। आजू भी दूसरी या तीसरी शादी (या सम्बन्ध) के समय औरत पूछती है, आखिर मेरी संतान का भविष्य क्या होगा? उस समय भी कैकेयी ने यही शर्त रखी होगी कि सिंहासन पर मेरा ही बेटा बैठेगा। बहुत-से राजाओं ने ऐसी शर्तों पर शादियाँ की हैं और बड़ी रानी को 'कागविडारनी' बना दिया है। छोटी रानी आँख की पुतली बनकर रही है। सिंहासन का हक कौशल्या और उसके बेटे का बनता है, मगर धौंस कैकेयी की है। समझदारी इसी में है कि सुभित्रा दोनों शक्तियों में अपना एक-एक बेटा बाँटकर संतुलन और सुरक्षा खोजे। हालत यह है कि शुरू से ही राम और भरत दो अलग-अलग दुनिया में रहते हैं। भरत और शत्रुघ्न की शिक्षा-दीक्षा विशिष्ट करा रहे हैं और राम-लक्ष्मण की विश्वामित्र। 'हंस' - जून-जुलाई १९८८ पृष्ठ २८)

यहाँ सबाल जरूरी है यह कि इतिहास नहीं कहने के बाद भी इतिहास ही मानते घलने का तर्क क्या होगा? क्योंकि जिस तरह से आप रामकथा के वृत्तातों को सामती 'पैलेस इंट्रीग' के तथ्यों की शक्ति देते थे जाते हैं, इससे साफ दिखाई देता है कि आप

‘रामायण’ को सामती व्यवस्था का इतिहास मानते-मनवाते घलना चाहते हैं। अन्यथा कम-से-कम इस तरह के हास्यास्पद सवाल आप कभी नहीं पूछते कि-

‘पूछा जा सकता है कि यारों भाई जगल में क्यों नहीं गये, या यारों ने महलों में रहकर ही वसिष्ठ से शिक्षा क्यों नहीं ली ? जरूरी था, तो यारों ही जाकर राक्षसों को मारते या ऋषियों और यज्ञों की रक्षा करते। दो हमेशा ननिहाल क्यों रहते हैं ? खासतौर से उस समय, जब राम अयोध्या में हो ? जिस राम का कल राज-तिलक होने वाला है, वह अगले दिन जगल में क्यों भागता है ? लक्ष्मण अपनी पत्नी को लेकर क्यों नहीं जाते ? राजा दशरथ बीमार होकर महलों में कैद क्यों हैं ? राम को कुछ विश्वस्त सैनिकों के संरक्षण में सीमा (नदी) पार कराया गया, या उन्हें ‘शत्रुओं’ की फौजों ने वहां तक खदेड़ा ? राजकोप के भय से मल्लाह के इनकार करने पर, डरा-धमकाकर, या मृदिका की घूस देकर नदी पार करने की हडबड़ी क्यों है ? बीच-बीच में लक्ष्मण और भरत वृद्ध पिता का वध करने की बात क्यों कहते हैं ? (हनिष्ये पितर-वृद्ध) दशरथ की मृत्यु पर कैकेयी वहां क्यों नहीं है ? [‘हस’- सयुक्ताक १६८८]

कहना जरूरी नहीं कि इन सारे सवालों को आप काव्य या महाकाव्य नहीं, बल्कि ‘पैलेस इंट्रीग्ज’ की सत्यकथाओं के सवालों के तौर पर पूछ रहे हैं।

अब आगर हम भी आपसे पूछें कि- लालबहादुर शास्त्री की ताशकद-यात्रा में श्रीमती ललिता शास्त्री जी को साथ क्यों नहीं जाने दिया गया ? कदाचित् शास्त्री जी का हृदय इतना कमज़ोर था, तो उसकी गति पाकिस्तानी बमबारी की जगह, ताशकद शाति-सधि में क्यों रुकी ? श्रीमती गांधी की हत्या के पहले ज्ञानी जैलसिंह और राजीव गांधी, दोनों ही एक साथ देश के बाहर क्यों घले गये थे ? दुर्घटना के दिन सजय गांधी अपने शौकिया हेलीकाप्टर में मेनका गांधी को साथ क्यों नहीं ले गये थे ? जहाज जब गिरा, तो उसमें आग क्यों नहीं लगी ? दोनों ही भाई हवाईजहाजबाजी के इतने शौकीन क्यों थे ? पहले भी दोनों भाई एक साथ विदेश पढ़ने क्यों भेजे गये थे ? दोनों नाना नेहरू के सरकार में ही क्यों पले ? एक भाई श्रीमती गांधी और दूसरा फिरोज गांधी के साथ क्यों नहीं रहता था ? या कि राजीव गांधी को रायबरेली की बिल्लियों की याद क्यों आती थी ? उनकी शादी भारत की जगह, इटली की लड़की से क्यों की गई ? तो क्या आप सचमुच जवाब देंगे ? और यदि नहीं, तो दूसरों से सन्निपात के रोगी की भाँति ‘रामायण’ के बारे में पूछने का मतलब ? शायद, आप कहें कि ‘सत्ता का द्वन्द्व’ लेख में सामती व्यवस्था के पैलेस इंट्रीग्ज की बात की गई है, समाजवादी- लोकतात्रिक इंट्रीग्ज की नहीं, लेकिन तो भी इन सारी बातों के बहिर्साध्य क्या होंगे ?

और कि क्या सत्यकथाओं तथा महाकाव्यों के बहिर्साध्यों की प्रकृति समरूप होगी ? अगर होगी, तो इन सवालों का जवाब क्या देना चाहेंगे आप की लक्ष्मी जहाँ कैद थी, वही क्यों, किसी दूसरी जगह कैद क्यों नहीं थी ? या कि जब वह किसी जेल या थाने में बद नहीं थी, तो उसे ‘कैद थी’ कहा ही क्यों गया ? या कि क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि बनिये ने राजेन्द्र यादव और लक्ष्मी, दोनों को एक ही कमरे में बन्द कर रखा हो ? क्योंकि

अगर ऐसा नहीं था, तो आपको पता ही कैसे चला कि लक्ष्मी कहाँ कैद थीं ? ये सवाल 'जहाँ लक्ष्मी कैद हैं' को कहानी मानकर उठाये गए सवाल होंगे, या कि सत्यकथा ? इस तरह के कुत्तर्क से तो यह भी सवाल उठाया जा सकता है कि 'गोदान' में होरी ही क्यों मरता है, धनिया क्यों नहीं ? या दोनों साथ-साथ क्यों नहीं मरते ? धनिया होरी के साथ सती क्यों नहीं हुई ? कहीं उसका इरादा पुनर्विर्वाह का तो नहीं था ?

ऐसे तमाम कुत्तर्कों की प्रासादिकता क्या होगी ? जबकि इतिहास के तथ्य और महाकाव्य या उपन्यासों के तथ्य समरूप कभी नहीं होंगे, क्योंकि न इतिहास स्वेदना को केन्द्र में रखकर लिखा जाता है और न ही साहित्य जड़ इतिहासतत्व को धुरी बनाकर ! यहाँ तक कि ऐतिहासिक काव्यों या उपन्यासों में भी जोर इतिहास के तथ्यों नहीं, बल्कि इतिहास के साहित्य में हप्तरण पर होगा और इसी अनुपात में समीकरण बदल जाएगी ।

होरी-धनिया के वास्तव में हुए होने का प्रमाण क्या होगा ? देश के बड़े-बड़े पुस्तैनी किसानों और खेतिहरो के बीच होरी-धनिया की किसानी की औकात ही कितनी होगी ? लेकिन भारतीय किसान के जीवनस्थिरों के प्रसंग में होरी-धनिया से बड़ी सद्याइयों का कोई उदाहरण मिलेगा कही ? होरी-धनिया के इतिहासिद्ध नहीं होने के बावजूद जैसे 'गोदान' भारतीय किसानों की स्वेदना का महाकाव्य है, ठीक ऐसे ही 'रामायण' भारतीय मानस के लिये किसी भी इतिहास से बड़ी सद्याई । अफसोस कि इतिहास, धर्मग्रथ स्स्कृति या काव्य के मूल उत्सों की पहचान बताने की जगह, आप हमें अपनी 'पैलेस इट्रीग्ज' - विशेषज्ञता के जासूसी फदों में फसाना चाहते हैं और इसीलिये दशरथ-राम, शाहजहां-औरगजेब में आपको कोई बुनियादी फर्क दिखाई नहीं पड़ता । जबकि जो इतिहास नहीं और जो इतिहास है, इनके बीच कही-न-कही एक बुनियादी फर्क होगा जरूर ।

स्पष्ट है कि रामकथा को 'पैलेस इट्रीग्ज' की सत्यकथा साबित कर दिखाने के चक्कर में ही आपने महाकाव्य के सारतत्वों और 'पैलेस इट्रीग्ज' की सत्यकथाओं के जासूसी तथ्यों को आपस में गड्ड-मड्ड करने का करिश्मा कर दिखाना चाहा है । कह लेने की इजाजत देंगे कि यह करिश्मा आपके स्तर के लेखक को शोभनीय नहीं ।

हम तो आपसे यह जानने में रुचि दिखाना चाहेंगे कि मनुष्य मुक्ति की व्याकुलता क्यों अनुभव करता है ? कभी धर्म, कभी विद्यार और कभी मिथकों में मुक्ति की खोज के उसके वास्तविक कारण क्या हैं ? महाकाव्य मनुष्य की इसी व्याकुलता को एक अधिकतम सुन्दर और सगत आकार देने का काम करते हैं । अफसोस कि 'रामायण' को महाकाव्यों का सिलसिला और (धर्मग्रथ के तौर पर भी) भारतीय मानस के लिये इतिहास से भी बड़ी सद्याई होने को स्वीकार करने के बावजूद आपने उसे 'सामती सत्ता-षड्यत्रों' की एक जानी-पहचानी सत्यकथा से ज्यादा कोई महत्व कर्तव्य नहीं दिया, तो इसे सिवा एक शर्मनाक अतर्विरोध के और क्या माना जाय ?

क्या आप हमें बताना चाहते हैं यह कि जो 'रामायण' सिवा सामती षड्यत्रों की 'पैलेस इट्रीग्ज' की कोटि की घासलेटी किस्सागोई के और कुछ नहीं, वह जड़, जाहिल

और इतिहासबुद्धि तथा बौद्धिक ज्ञान के स्पर्श तक से शून्य भारतीय मानस के लिये सहस्राब्दियों तक इतिहास से भी बड़ी सद्याई बनी हुई है ?

बड़े भाई, छूठ को बिना पॉव का यों ही नहीं बताया गया । अपने इस अतर्विरोधी कथन से आपने स्वयं इस सच को उजागर कर दिया है कि महाकाव्य कैसे इतिहास से भी बड़ी सद्याई हुआ करता है, क्योंकि उसमें ही मनुष्य अपने विराट के साथ के सम्बन्धों का साक्षात्कार कर पाता है, जड़ इतिहासवाद में नहीं । सदेदनात्मक नैरतर्य और स्मृति की मानव इतिहास में क्या भूमिका होती है, इस गहराई में गये बिना ही इतिहास के पन्ने फड़फड़ाना ठीक नहीं ।

‘रामायण’ इतनी सपाट धीज नहीं । वह हिन्दुओं से पहले भारतवर्ष का जातीय महाकाव्य है । भारत के सीमातों के भी पार, मनुष्य-मात्र की सदेदना का अपूर्व प्रतिमान ! हिंदू समाज की विकृतियों के उत्स ‘रामायण’ नहीं, बल्कि मूल्यकेन्द्रित राज्यव्यवस्था के धीरे-धीरे सामती शक्तियों की सत्ता में परिवर्तित होते जाने की पतनशील प्रक्रिया में निहित हैं । धार्मिक पोंगापथ और जातिवाद का कोढ़ ‘रामायण’ की देन नहीं, बल्कि ‘रामायण’ के एक जातीय महाकाव्य की स्थिति से जातिवादियों की धार्मिक पोथी में अवक्रमित होने की जड़ें सामती प्रभुत्ववाद में हैं । आपकी कोटि के मूर्धन्य लेखक को इतना अभिज्ञान जरूरी था कि ‘पैलेस इट्रीर्ज’ की सत्यकथाएँ सस्कृति का आधार नहीं बना करती हैं, क्योंकि सस्कृति की भित्तियाँ समाज के सदेदनों पर टिकी होती हैं, ‘पैलेस इट्रीर्ज’ नहीं ।

कहीं किसी ऐसी सस्कृति या सास्कृतिक प्रक्रिया का कोई उदारहण देंगे आप, जिसका मूलाधार ‘पैलेस इट्रीर्ज’ की सत्यकथाएँ रही हों ? भारतीय मानस के लिये ‘रामायण’ के इतिहास से भी बड़ी सद्याई होने के सारे सूत्र ‘रामायण’ के भारत की जातीय सस्कृति का महाकाव्य (सदेदना के काव्य में रूपातरण) होने में अतग्रिष्ठ हैं और सारे दैवी (परिकल्पनामूलक) मिथकों के बीच से भी उन आधारभूत सारतत्वों की पहचान निर्दिष्ट करना ही किसी लेखक को शोभा दे सकता है, जो हजारों वर्षों के बौद्धिक विकास, जातीय स्मृति और सदेदनगत व्याप्ति का एक महाकाव्यात्मक वितान हमारे सामने उपस्थित करते हों ।

आपके पूरे लेख में ‘रामायण’ की इस सास्कृतिक धुरी का कोई उल्लेख करता ही नहीं । आपका इतिहास, सस्कृति और मुकितदाता धर्म के आपस में सक्रमण का फतवा ‘रामायण’ को ‘पैलेस इट्रीर्ज’ की सत्यकथा साबित करने की घतुरता को ढॉपने का एक आवरण-मात्र है, क्योंकि अपने लेख में इतिहास, सस्कृति और धर्म के सक्रमण के सवालों की पहचान और विवेदना में आपने कोई रुचि कहीं नहीं दिखाई है ।

आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि इतिहास की पुस्तक को इतिहास, महाकाव्यों को महाकाव्य या कि धर्मग्रथों को ‘धर्मग्रथ’ बताने में कोई बाधा उपस्थित होती हो । --अगर कोई कहे कि इस दृष्टि से देखने पर तो किसी भी हिन्दू ग्रथ को धर्मग्रथ कहा ही नहीं जा

सकता, क्योंकि हिन्दू का हिन्दू होना धर्मग्रथों पर अवन्मित है ही नहीं, तब बताना जरूरी होगा यह भी कि ऐसा क्यों है ।

धर्म के मामले में हिन्दू समाज को विश्व का सर्वाधिक खुला, सहिष्णु और उदार समाज मानने में जिन्हें कष्ट होता हो, उन्हें इतिहास, संस्कृति, और धर्म के गड्ढ-मड्ढ होने का दावा करते वक्त यह बताना जरूरी होगा कि 'रामायण' किस हद तक इतिहास, कहाँ तक संस्कृति (या महाकाव्य) अथवा किस रूप में धर्मग्रथ है । जो इतना स्पष्ट बताने में असमर्थ हों, उन्हें मान लेना चाहिए कि सारा गड्ढ-मड्ढपन उनकी खुद की बुद्धि, समझ और उद्देश्य के स्तर पर है । खुद के गड्ढ-मड्ढ को 'रामायण' का गड्ढ-मड्ढ बताना ठीक नहीं ।

'रामायण' को अपने ढंग से लिखने की बात दसियों सालों से सिर्फ सोचते ही क्यों रह गये हैं आप ? आपका कहना है-

'सामती व्यवस्था के घौखटे में राम के आचार-व्यवहार का जो रूप रहा होगा, या जो कुछ उनके साथ या उनके द्वारा घटित हुआ होगा -- उसे अपने ढंग से लिखने की बात मैं दसियों बरसों से सोचता रहा हूँ । आखिर एक विशिष्ट समाज में मानव-व्यवहार और उनसे प्रेरित कार्य-व्यापार का एक सामान्य रूप तो निर्धारित होता ही है, राम क्या सिर्फ उनका अपवाद ही है ।'

इरादा अभी भी बरकारार हो, तो इतना ध्यान जरूर रखियेगा कि 'रामायण' को अपने ढंग से लिखने और 'रामायण' के तथ्यों को अपने ढंग से विकृत अथवा विस्पृत करने में अतर है । वैसे इस बात की एक अच्छी-खासी झलक तो आपने अपने इसी लेख में दें दी है कि सामती व्यवस्था के घौखटे में राम के आचार-व्यवहार का रूप आपकी खोजी प्रतिभा के स्पर्शों के बाद कैसा निकल आयेगा । लव-कुश के द्वारा गला दबाने के बाद, नदी में हुबोकर राम की हत्या किये गए होने का जो रहस्य आपने उद्धाटित किया है, इससे भी कुछ अनुमान लगा ही लेंगे लोग कि राजेन्द्र यादव-विरचित इतिहाससम्मत 'रामायण' में और क्या-क्या चमत्कारिक तथ्योदयाटन सम्भावित हो सकते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर 'रामयण' आपके द्वारा पुनर्जित हुई, तो यह अपन ढंग की एक रोमांचकारी कृति होगी जरूर । बिलकुल सम्भव है कि उसमें सीता लैला का भात करनी नजर आ रही हों और राम मजनू बने अशोकवाटिका की राक्षसिया के झापड खा रहे हों । ---क्योंकि इतना आप पहले ही बता द्युके कि संस्कृत के मानक और 'विशित्याधिकारी' वाली भाषा होने से बहिर्साक्ष्य अधिक विश्वसनीय होंगे ।

अब कोई दूसरा क्या खाकर यह सिद्ध कर पायगा कि आपके द्वारा प्रस्तुत रहस्योदयाटन बहिर्साक्ष्य के मान नहीं ? जब किसी महाकाव्य को एक सामती सन्यकथा सिद्ध करने को विरुपता की किसी भी हद तक जाकर मतव्यसिद्धि ही लक्ष्य हा, तो तय है कि तब ऐसे तमाम बहिर्साक्ष्य ही सर्वाच्च मानक सिद्ध होग जा महाकाव्य के सारतत्वों के हलाल में सहायक हो सके ।

आप बताते हैं -

‘वाल्मीकि रामायण को प्रस्थान-बिन्दु मानकर ही मुझे लगता है कि राम की कथा उन सैकड़ों-हजारों कहानियों से बहुत अलग नहीं होनी चाहिये, जो उस व्यवस्था में हर देश-काल में घटित होती रही हैं। सामती व्यवस्था में व्यक्ति का अलग से वैसे भी कोई अर्थ नहीं होता। उदारहण के लिए थोड़े-बहुत बदलाव को छोड़कर उस व्यवस्था में हर कहीं प्रेम-कहानी का लगभग वही रूप रहा है, जो लैला-मजनू या हीर-राँझा का। हर ‘रासोवीरगाथा’ में राजा-रानियों के नाम बदलकर एक ही कहानी चलती है।’

[‘हस’-संयुक्ताक, १९८८ पृष्ठ २८]

जब राम की कथा हर देश-काल में घटित होने वाली सैकड़ों-हजारों कहानियों में से ही एक, तब आपको सिर्फ़ ‘रामायण’ से ही इतनी गहरी तकलीफ़ क्यों है? क्यों नहीं लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, जहाँगीर-अनारकली या आल्हा-ऊदल की ही कहानी को अपने ढग से लिख डालते आप? हमसे पूछिये, तो रामकथा अपने ढग से कभी नहीं और कदापि नहीं लिख पायेगे आप, क्योंकि बेढोपन की भी एक हृद होती है और वह इसी लेख में सामने आ चुकी है। आपके स्तर का लेखक ‘रामायण’- जैसे महाकाव्य पर इतने घटिया स्तर पर उतरकर लिखे, इसे सिर्फ़ दुखद ही कहा जा सकता है।

आपसे तो हमें यह जानने को मिलना चाहिए था कि किसी कृति में रघना के बे कौन-से आधारभूत सारतत्व हुआ करते हैं, जिनसे कि एक अन्यथा सामान्य-सी लगती कथावस्तु भी महाकाव्यात्मक सवंदेना से छिलमिला उठती है। ‘रामायण’-जैसे महाकाव्य में से जिस कोटि के तथ्यों को खोज निकाला है आपने, ये एक तीन कौड़ी के जासूस की कल्पना से भी बदतर हैं।--- जिसकी बुद्धि सिर्फ़ विकृति की दिशा में ही दौड़ती हो, उसके द्वारा महाकाव्यों का आकलन असम्भव है। आप बतायेंगे कि जब ‘रामायण’ की कथा सामती व्यवस्था की सैकड़ों-हजारों प्रचलित कहानियों में से ही एक है, तब सैकड़ों-हजारों रामायणों के प्रचलन में नहीं होने का रहस्य क्या है? एक रिति तो, खैर, अभी आपके लैला-मजनू, शीरी-फरहाद या ‘जहाँगीर-अनारकली’ पर महाकाव्य नहीं रघने से रह गई।

कहने को तो कह दिया, लेकिन कुछ हमे समझायेंगे भी कि व्यक्ति का अलग से कोई महत्व सामन्ती व्यवस्था में नहीं होता, या कि साम्यवादी व्यवस्था में? आज तक यही सुनते-समझते आये थे कि व्यक्तिवाद सामती और पूजीवादी व्यवस्था की धुरी है? व्यक्ति का सामन्त में स्पातरण ही सामन्ती व्यवस्था को जन्म देता है, व्यक्ति का अलग से कोई महत्व नहीं रह जाने का करिश्मा नहीं। फिर ऐसी कोई भी व्यवस्था असम्भव है, जिसमें व्यक्ति का अलग से कोई महत्व नहीं रह जाता हो। सवाल सिर्फ़ चरित्र का हो सकता है।

झूठ की यह ग्रासदी है कि आदमी को अपना ही कहा स्मरण नहीं रहता। इतिहास या संस्कृति के महानायकों को उनके अपने ही समाज में रखकर देखने का मतलब यह कहाँ से निकल आया कि सीता और राम का लैला-मजनू, शीरी-फरहाद और जहाँगीर-अनारकली से मिलान करके ऐसे मनमाने नतीजे निकाल जाय, जिनसे खाज की

जगह खाज टपकी पड़ती हो ? क्या रस्तम-सोहराब, शीरी-फरहाद, लैला-मजनू, आल्हा-ऊदल और अनारकली-नूरजहँ, मुमताज और दशरथ-कैकेई या राम-सीता के समाज या कि देश-काल एक ही है ? और समान रूप से ऐतिहासिक भी ?

जब इतिहासबुद्धि का दीवाला इस हद तक पिटा हुआ हो कि पुष्पक विमान की उडान को तो शुद्ध काल्पनिक हवाई उडान, लेकिन सीता के अग्निदाह के बाद भी सुरक्षित रह जाने को प्रमाणिक इस घतुराई में मान लिया जाय कि अन्यथा सीता के द्वारा राम की लाल्हना को भी काल्पनिक ही कहना पड़ सकता है- तब इतिहास, सस्कृति और मुकितदाता धर्म के परसपर सक्रमण का हुलिया इससे बेहतर क्या होगा कि राम दशरथ का गला दबा रहे हों, लव-कुश रा-नरेन्द्र-रत शत्रुघ्न का और सीता अनारकली बनी 'प्यार किया तो डरना क्या' गाती दिखाई पड़े ?

आप बताएंगे कि जब प्रस्थान-बिन्दु वाली सामती कहानी काव्यों- महाकाव्यों का हजारों-साल लम्बा सिलसिला बन गई, तो अनारकली की कहानी क्यों नहीं ? इसलिए कि घूंकि उधर से अतीतवादी हिन्दुओं ने दुश्मनों के द्वारा जगल में खदेड़ दिये गए पितृहता राम के दरबार की अनारकली (सीता) को जगतजननी का दर्जा दे दिया-- और उधर अनारकली पर राजेन्द्र यादव जी के द्वारा कोई महाकाव्य नहीं रचा गया ?

समझना मुश्किल है कि सामती व्यवस्था की आपकी अवधारणा क्या है । जहा तक हम समझ पाये हैं, सामती व्यवस्था में सामाजिक अथवा नैतिक मूल्यू'पैलेस इट्रीज' के प्रतिमान नहीं हुआ करते हैं । सामती व्यवस्था में सीता को राम की प्रताड़ना करने पर, सामत-शिरोमणि राम के द्वारा 'आखों के रोगी के सामने की निष्कम्प दीपशिखा' की उपमा नहीं दी जाती । बल्कि बहुत सम्भव है कि सीता को विभीषण को सौंपते हुए, कुछ ऊँचा सौदा कर लिया जाता । सामती व्यवस्था में बलकुल सम्भव था कि मदोदरी को राम की रखेल के रूप में पुष्पक विमान में जगह मिलती । सामती व्यवस्था में महारानी पर लाल्हन बूकने वाले धोर्बा भद्र की चमड़ी उधेड़ ली गई होती और उसका आखिर हुआ क्या, यह सिर्फ सरयू की भछलियों या अयोध्या के घील-कौवों को ही पता चल पाता, जिसको कि स्वयं आपने 'चुगलखोर मुसाहिब' करार देते हुए, उसे राम से ज्यादा शक्तिशाली तथा राम को उसकी धूर्तता का शिकार बताया है ।

सामती व्यवस्था में जान बघाकर भागते में मुद्रिका घूस में लेकर ही नदी-पार उतारने वाल निषाद को घक्कर्तीं समाट के द्वारा स्वयं की 'आत्मा का प्रतिबिम्ब' नहीं माना जाता है । सामती व्यवस्था में अस्तित्व-भय में राज्य की सीमा-पार भागे हुए बड़े भाई के लिये, छोटा भाई पर्णकुटी का जीवन अगीकार करते हुए, सर्वोच्च राज्यप्राधिकारी होने के बावजूद जोगी का जीवन व्यतीत नहीं करता है ।

हालाकि 'हम' के इसी अक में आपने अपने विगदर श्री भगवान सिंह के द्वारा यह रहस्य भी उजागर कर्त्ता हिया है कि भरत भारतग्राम में ग्राम्यविश्व में इसालैट तपस्वी की जीवन बता रहे थे कि उजागरता कैकड़े ने ग्राम्यविश्व लोगों और सज्ज्य की दवा करने

पर वह भरत की (भी) हत्या करवा सकती थी ।

----ऐसा अपूर्व पूर्वानुमान तो लोग श्रीमती गांधी के बारे में भी लगाने में हिचकते रहे, जबकि सजय गांधी की अकालमृत्यु से कुछ भी प्रवाद गढ़ा जा सकता था ।

जाहिर है कि आपका पूरा लेख श्री भगवान सिंह के इसी विद्वत्तापूर्ण लेख के रहस्योद्घाटनों से अनुप्राणित है, जिसमें कि 'रामायण' से तात्पर्य उस विकृति से है, जिसको गहन आलोचनात्मक विवेक से ही पढ़ा जा सकता है।^१

श्री भगवान सिंह यह नहीं कहते कि मूल रामकथा में क्षेपकों से आ गई विकृतियों और अप्रासादिक-अप्रामाणिक मिथकों को आलोचनात्मक विवेक से देखा जाना चाहिये । वो 'रामायण' को ही विकृत कृति घोषित करते हैं, बिना यह स्पष्ट किये ही कि किसी मूलत विकृत कृति में से गहन आलोचनात्मक विवेक से भी सिर्फ विकृति को ही उपलब्ध किया जा सकता है ।

अतर आपके और उनके लेख में यह है कि वो राम को आपने तरह पिरूहता और पुत्रहत घोषित न करके, 'महान क्रतिकारी लोकनायक' के रूप में राख्यायित करते हैं । यहां भी उन्हें यह दिया नहीं कि किसी विकृत कृति में 'महान क्रतिकारी लोकनायक' सम्भव ही कैसे है ? या कि जिसका नायक 'महान् क्रतिकारी लोकनायक' हो उसे विकृत कृति की श्रेणी में रखना किस गहन आलोचनात्मक विवेक का सूचक होगा ? उद्धरणमार्तण्डता और मनमानी व्यवस्थाओं को गहन आलोचनात्मक विवेक का नाम देने की गलतफहमी का ही यह परिणाम है कि उन्हें 'रामायण' शास्त्रीय अर्थ में महाकाव्य क्या, काव्यात्मक कृति भी नहीं दिखाई पड़ता है ।^२

एक ही सास में रामायण 'विकासशील महाकाव्य' भी है और शास्त्रीय अर्थ में काव्य भी नहीं है ! हासशील महाकाव्य बताते भगवान सिंह, तो माना जा सकता था कि कालांतर में हास होते-होते महाकाव्य काव्य भी नहीं रह गया । विकासशीलता की प्रक्रिया में तो महाकाव्य के अतिमहाकाव्य हो जाने की सम्भावना अधिक होगी ? फिर जब 'रामायण' के आरम्भिक रूपों का खुद भगवान सिंह को ही कोई अता-पता तक मालूम नहीं, तो किस सङ्कक्षाप ज्योतिषी ने उन्हें बता दिया कि 'रामायण' का आरम्भिक रूप निश्चय ही एक महाकाव्य का था ? गनीमत कि ज्ञानकोश ही कहा, शब्दकोश नहीं, लेकिन कोई विकृत

१- 'रामायण से हमारा तात्पर्य उस विकृत कृति से है, जो रामकथा और राम का चरित्र एक लोकनायक के रूप में उनके असाधारण महत्व, सभी की हत्या करती है और जिसको गहन आलोचनात्मक विवेक के साथ ही पढ़ा जा सकता है ।' (भगवान सिंह 'हस' - सयुक्ताक १६८८, पृष्ठ-३१)

२- 'रामायण' और महाभारत, दोनो विकासशील महाकाव्य हैं- शास्त्रीय अर्थ में काव्य भी नहीं अपितु महापुरुष और ज्ञानकोश । इनका आरम्भिक रूप निश्चय ही एक महाकाव्य का था । (भगवान सिंह 'हस' - सयुक्ताक १६८८ पृष्ठ-३२)

कृति ज्ञान का कोश कैसे होगी ? भगवान सिंह महाकाव्य या काव्य की क्या परिभाषा करना चाहेगे ? जबकि अपने बृहत्तर अर्थ में काव्य पद्य ही नहीं, गद्य का भी आगिक तत्व ही हो जाता है ।

श्री भगवान सिंह के लेख का कुछ उल्लेख यहा सिर्फ इतना ध्यान दिलाने को कि जहा अतर्वस्तु और भाषा का सामान्य विवेक ही लापता हो, वहा बद्यारे गहन आलोचनात्मक विवेक को जगह कहा होगी ? अलबत्ता उनके इस तर्क से असहमति की गुजाइश नहीं होगी कि किसी भी कृति को अधभाव से नहीं, बल्कि गहरे तत्वदर्शी विवेक के साथ देखा जाना चाहिये ।^३

रामकथा या 'रामायण' के समाजविरोधी शक्तियों के द्वारा घट्यत्रकारी दुरुपयोग और इसके दुष्परिणामों से भी इकार नहीं किया जा सकता । भगवान सिंह का समाज या मूल्यविरोधी विकृतियों के परिहार का तर्क भी पूरी तरह सगत है और शास्त्रार्थ की जो व्याख्या उन्होंने दी है, उससे स्पष्ट है कि वो अधनिषेधवादी नहीं हैं, किन्तु उनके लेख में अतर्विरोध और दुराग्रह जरूर है । इसी से कई 'जगह भाषा का विवेक भी गहन होने की जगह, गहरे गड्ढे में जा गिरा दिखाई पड़ता है । जबकि आपके लेख में 'रामायण' और भारतीय सस्कृति के गुणात्मक पक्षों का पूरी तरह निषेध है ।

आप लिखते हैं कि-

'जीवित अतीत का ही दूसरा नाम भूत है । यहा एक बात समझना और भी जरूरी है कि राम की कथा या कोई भी रचना जहा सस्कृति की विरासत के रूप में अनत व्याख्याओं के द्वार खोलती है, वही धर्म-ग्रथ के रूप में पूज्यकथा के साथ--- बहुत छेड़छाड़ को बर्दाश्त नहीं करती । वही मुहावरा या घौखटा बरकरार रखते हुए आप बहुत सावधानी या घतुराई से उसमें कुछ घटा-बढ़ा लें यह तो सम्भव है, लेकिन विश्लेषण और व्याख्याओं की क्रिया में जायेगे, तो वही छाया-युद्ध (या फैणटम फाइट) शुरू हो जायेगा, जो आज हो रहा है । धार्मिक-विश्वास हमें जिन्दगी की सचाइयों और लडाइयों से हटाकर नकली प्रतीकों के युद्ध में उतार देते हैं ।' ('हस' सयुक्ताक १६८८-पृ०-२६)

१-'वेदों में एक स्थल पर आया है, पारस्परिक विचार- विमर्श के उपरान्त इसके सार-हीन अश का उसी तरह परिहार (कर देना चाहिये) जैसे सत्तू को छानकर उसकी भूसी फेंक देते हैं । (ऋ० १०-७१-२) इसका अर्थ रहा है, अपने से भिन्न नितात विरोधी दृष्टिकोण रखने वालों के साथ भी धैर्य से बैठकर विचार, अपने पक्ष का तर्कपूर्ण और ओजस्वी ढंग से प्रतिपादन, किन्तु अपर पक्ष के तर्कों और प्रमाणों को भी आदर और सहानुभूति से सुनना और विचार करना और यदि अन्तिम व्याख्या में दूसरे का पक्ष अधिक वैज्ञानिक और ग्राह्य लगे, तो इसे बिना किसी अवरोध के स्वीकार करना । यही हमारी परम्परा की सबसे बड़ी शक्ति रही है । भगवान सिंह 'हस' सयुक्ताक १६८८, पृ०-३२ ।

कहा जरूर, लेकिन बताया कही नहीं आपने कि 'राम की कथा सास्कृतिक विरासत के रूप में अनत व्याख्याओं के द्वारा आगर खोलती है, तो आपके लेख में इसकी खिड़कियों के सुराख तक बन्द क्यों हैं ? न ही आपने कही यह जिक्र किया कि रामकथा को सास्कृतिक विरासत की जगह, 'पैलेस इंट्रीग्ज' की जासूसी रपट की तर्ज में श्री व्याख्यायित करने की आखिर ऐसी अपरिहार्यता क्या थी ? और जो यह आपने 'जीवित अतीत का ही दूसरा नाम भूत' होने की सूचित बधारी है, इस सन्दर्भ में, इतना कह लने की हजाजत इधर भी रहे कि जीवित अतीत का ही दूसरा नाम संस्कृति भी होता है । सवाल रह जाता है सिर्फ यह कि कौन संस्कृति को साधना चाहता है और कौन 'भूत' को सिद्ध करना । आप यह भी नहीं बताते कि सिर्फ हिंदुओं के धार्मिक विश्वास ही नकली प्रतीकों को युद्ध में उतार देते हैं, याकि मुसलमान या ईसाईयों के भी ।

जहा तक 'धर्मग्रथ'-रूपी पूज्यकथा के साथ बहुत छेड़छाड बर्दाश्त नहीं करने का सवाल है, आप बतायेंगे कि यह छेड़छाड इस हद तक जाकर भी करना जरूरी क्यों हो कि राम के लव-कुश के द्वारा गला दबाकर हत्या कर दिये गये होने की घोषणा जरूरी लगे ? और इसका प्रमाण दिया जाये इस तर्क से कि वौंकि सामन्ती व्यवस्था में अन्नाउद्दीन के द्वारा खुद के चाचा की हत्या, और गजब के द्वारा शाहजहां को घुला-घुलाकर मारने के ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं ।

आप कुछ बतायेंगे भी कि इस तरह की छेड़छाड का कोई उद्देश्य भी होगा या कि बस, यां ही छेड़छाड को छेड़छाड जरूरी होगी ? सच कहें, तो आपकी इस 'पैलेस इंट्रीग्ज' की रहस्यखोजी बौद्धिक 'फैण्टम फाइट' का सचमुच कोई जवाब नहीं ।

छेड़ने में कुछ हर्ज नहीं, लेकिन बताना भी जरूर चाहिए कि छेड़ना जरूरी क्यों हुआ है । दशरथ की हत्या कौशल्या- सुमित्रा- कैकेयी- भरत- शत्रुघ्न या राम-लक्ष्मण में से किसी के द्वारा और राम-लक्ष्मण की हत्या लव-कुश के द्वारा हुई बताना, उन करोड़ों-करोड़ लोगों के सवेदनात्मक लगावों को एक निहायत ही खतरनाक बौद्धिक उच्चकर्त्ता के साथ छेड़ना है, जिनके लिए रामकथा सिर्फ किन्हीं सामतों के व्यक्तिगत शौर्य-प्रेम और दृन्द्रों की नहीं, बल्कि एक व्यापक मानव-समाज की जातीय-स्मृति, संवेदना, परम्परा, नैतिक अवधारणा, सामाजिक स्वस्ति और आत्मा की आलोक-रेखाओं के महाकाव्यात्मक प्रतिबिम्बन की प्रतीक और धरोहर है ।

सीता को अनारकली सिद्ध करना एक बौद्धिक भड़ौस के सिवा कुछ नहीं, क्योंकि यह एक पूरे समाज की सवेदना और चेतना पर थूकना तथा उसे यह बताना है कि 'रामायण' के द्वारा हजारों वर्षों से सिर्फ जाहिलों और मूर्खों का मनोरजन होता चला आ रहा है । यानी करोड़ों-करोड़ों हिन्दू हजारों वर्षों से एक ऐसी बर्बर और कुत्सित सामती कहानी को संस्कृति का सर्वोच्च मानक मानकर उसी में सौंस लेते आ रहे हैं, जिसमें अवैद्य संतानोत्पत्तियों तथा पुत्र के द्वारा पिता अथवा पत्नी के द्वारा पति की नृशस्स हत्या के 'पैलेस इंट्रीग्ज' के सिवा और कुछ नहीं । जहा दशरथ की नियाजित हत्या को राम के विष्णोह में प्राण-त्याग के झूठ से ढका जाता है आज हत्या के भय य जगल का भाग राम के सुर्दिका

घूस में दक्कर रातों-रात गगापार भागने को पिता के वयन की रक्षा में वनवास-ग्रहण की मिथ्या गरिमा से । और ऊपर से निषादराज गुह की रामभक्ति का पलोथन और घटा दिया जाता है ।--- और अन्त में राम-लक्ष्मण के लव-कुश के द्वारा गला दबाकर नदी में हुबा दिये गये होने के ऐतिहासिक द्वन्द्वत्सक यथार्थ पर राम के महाकाल से सवाद^१ की कलई कर दी जाती है ।

ममलना मुश्किल है कि रामकथा पर बाद के भक्त कवियों के द्वारा घटाई गई पलोथन को स्थाने का आपका यह काम आत्मस्फूर्त है, या कि किसी गुप्तघर संस्था के द्वारा भौपा गया ।

अगर आपका इगदा हिन्दू जाति के अधिविश्वासों को दूर करने का होता, तो लेख में यह अत्विराध कदापि नहीं रहता कि एक तरफ तो रामायण को काव्यों और महाकाव्यों का हजारा सालों का स्थिलमिला और भारतीय मानस के लिए किसी भी इतिहास से बड़ी मचाई बताया, और दूसरी तरफ डके की घोट पर कहा जाय कि वाल्मीकि-रामायण भैकड़ा-हजारों सामती अत पुराँ की हत्यारी कहानियों के प्रस्थान-बिन्दु से दीगर कुछ नहीं ।

आप-जैसे प्रबुद्ध तथा हिन्दी साहित्य के शीर्ष पर स्थापित लेखक को बताने की जम्मन आगी कि महाकाव्य 'पैलेस इंट्रीज' की देन नहीं, बल्कि अनन्य सृजनात्मक मेधा के धनी महाकवियों की सृष्टि हुआ करते हैं ? महाकाव्यों में युग-युग की सदित मूल्यदृष्टि, सवेदना और शब्द-रूप-शिल्प आकार लेते हैं। किसी महाकाव्य में से बाकी सारे सारतत्वों को छोड़कर, सिर्फ 'पैलेस इंट्रीज' को सूधकर सामने रखना ठीक बैसा ही है, जैसे मक्खी शरीर में से सिर्फ गन्द को उठाकर सामने रखती है ।

दो में से एक बात झूठ है । या 'रामायण' महाकाव्य है और या सिर्फ एक बर्बर-विकृत सामती कहानी । आपको जरूरी था कहना कि 'रामायण' हिन्दुओं का धर्मग्रथ चाहे जितना हो, काव्य या महाकाव्य के सारतत्व इसमें कर्तव्य नहीं । कोई कृति इतिहास से बड़ी सद्याई और निहायत ही सामान्य तथा विकृत और बर्बर सामती कहानी, दोनों साथ-साथ कैमे

१- श्रुणु राजन् भहामत्व यदर्थमहभागत ।
पितामहेन दवेन प्रेपितोऽस्मि नहाबल ॥
स त्वं मनामय पुत्रं पूर्णायुर्मानुपेष्विह ।
काला दय ते नरथ्रेष्ठं भमीपमुपवर्तितुम ॥
श्रुत्वा पितामहनोक्तं वाक्यं कालभमीरितम् ।
गद्यव प्रहभन वाक्यं भर्वगहागद्वीत ॥

(काल का राम संग्रहालय: 'रामायण', उत्तरकाण्ड मर्ग १०४)

(काल का राम संवाद रामायण उत्तरकाण्ड मर्ग १०४)

होगी ? आपको दोटूक कहना था कि 'रामायण' पर आस्था और इसके प्रति अनुराग का कारण हिन्दू जाति का बुनियादी तौर पर ही इतिहास, सांस्कृति और काव्य या धर्म के विवेक से शून्य होना रहा है।

जो जाति एक निहायत ही सामान्य और विकृत सामती कहानी को हजारों सालों तक अपने सांस्कृतिक महाकाव्य के रूप में छाती से चिपकाये रहे, उसकी सवेदना और देतना पर सच्चाई के कोडे फटकारना अध्य-विश्वासो के अधेरे को छाँटने की पहल करना ही होगा, लेकिन आपकी पहल यह नहीं है। आप या तो पहले एक निहायत सामान्य सामती कहानी पर काव्य-महाकाव्यों का हजारों सालों में फैला सिलसिला और किसी भी इतिहास से बड़ी सच्चाई होने की राख घटाकर, तब हिन्दू समाज की आस्था और सवेदना पर चोट करने की चालाकी बरतना चाहते हैं- और या इस तथ्य को चुपचाप गटक जाना चाहते हैं कि खतरनाक सच नहीं, झूठ होता है।

लेख का आपत्तिजनक पक्ष 'रामायण' की कटु आलोचना नहीं, बल्कि झूठी, मनमानी और विकृत विवेदना है। आपने अपने निष्कर्षों को या तो खुद झूठा सिद्ध किया है और या झूठ को सच बनाने के लिए अनुमान-मात्र को पर्याप्त समझ लिया है। दोनों ही स्थितियों खतरनाक नासमझी का सबूत हैं।

पूरे लेख में 'रामायण' की किसी एक भी अच्छाई का कही कर्तव्य कोई उल्लेख नहीं, जबकि 'रामायण' को 'पैलेस इंट्रीग्ज' की सामान्य- सी किताब साबित करने के लिए लव-कुश से राम-लक्ष्मण का गला दबवाने तक मे कोई सकोच नहीं किया गया है। लेख का कुल नियोड यह है कि मूल रामकथा में कैकेयी, भरत या राम-लक्ष्मण में से किसी के द्वारा दशरथ की हत्या, राम के प्राणभय से जगल मे पलायन और अत में लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण को, गला दाबकर, सरयू में ढुबो देने की सच्ची ऐतिहासिक घटनाएँ रही होंगी। बाद में वाल्मीकि-तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने 'ऐतिहासिक घटनाओं' पर भक्ति की पलोथन घटा-घटकर 'पैलेस इंट्रीग्ज' की सत्यकथा को महाकाव्यों का जामा ओढ़ा दिया ।

लव-कुश से राम-लक्ष्मण का गला दबवाने के लिए खुद की समझ, दृष्टि और सवेदना का गला दबाना जरूरी हो जाय, तो भी व्यक्ति को एक क्षण को थमकर, इतना तो कम-से-कम देख ही लेना चाहिए कि कही कोई देख तो नहीं रहा। ---क्योंकि लिख को दूसरो तक पहुँचाने से पहले खुद ध्यान से देख लेना जरूरी है कि वह सच है, या झूठ । झूठ सतुलन को बिखेर देता है। हालाँकि आपने बाबा साहब अम्बेडकर के लेख को 'हस' मे प्रकाशित करने के बावजूद यह चुटकी जरूर ली है कि आज के आग्रहो-पूर्वाग्रहो से 'रामायण' के प्रसगों को जाचना हमे अम्बेडकर की तरह असतुलित कर सकता है। ---लेकिन खुद का सतुलन खोना आपको स्मरण नहीं रहा।

बहरहाल बिल्कुल सम्भव हा सकता है कि मेरी यह प्रतिक्रिया ही गलघोट प्रवृत्ति की

उपज हो ।--- इसलिए उपकृत होऊँगा यदि बताने की कृपा करें कि 'रामायण' को समयमुच्च किस श्रेणी में रखना चाहेंगे आप ? स्मरण रहे, लेख के प्रारम्भ में ही एकबार आप कह दुके कि- 'रामायण' इतिहास नहीं, काव्य है। हालांकि यह आप कर्त्ता नहीं बताते कि जो इतिहास न हो, वह 'पैलेस इंट्रीग्ज' का दस्तावेज कैसे होगा। काव्य तो जासूसी सत्यकथा होता नहीं ?

किसी किताब को काव्य मानते ही अनेक झाझटे स्वय समाप्त हो जाती हैं। तब उसके काल्पनिक या ऐतिहासिक होने का सवाल भी स्वत हल हो जाता है, क्योंकि इतिहास, काव्य या कथा में भी इतिहास, इतिहास ही रहता और इसी दृष्टि से देखा जाता है, जबकि काव्य को ठीक यही दर्जा इतिहास की किताबों में नहीं दिया जाता। महात्मा गांधी पर कोई महाकाव्य रचे और उसमें दिखाए कि उन्हें पड़ित जवाहरलाल नेहरू या सरदार पटेल ने गला दबाकर मार डाला था, तो इसे शूठ साबित करने में कोई बाधा नहीं होगी ।--- लेकिन वाल्मीकि अगर बता रहे हों कि राम ने, काल के इगित पर अपने प्रयोजन को समाप्त हुआ मानकर, सरयू में आत्मविर्सजन किया, तो इसे 'पैलेस इंट्रीग्ज' के तहत लव-कुश के द्वारा गला दबाकर की गई हत्या साबित करने का रास्ता क्या होगा ?

अगर वाल्मीकि-कृत 'रामायण' में सीता को राम की बहन या रावण की बेटी नहीं बताया गया, तब 'बौद्ध रामायण' के उद्धरण किस मर्ज की दवा होंगे ? जब 'वाल्मीकि रामायण' नहीं, तो 'बौद्ध रामायण' किस तर्क से इतिहास बन जाएगा ? जनश्रुतियों के तथ्य लिखित 'रामायण' के तथ्यों से ज्यादा प्रामाणिक क्योंकर हो जाएँगे ?

जहां तक हमारे मतव्यों की तुष्टि होती हो, वहा तक इतिहास, और जहां नहीं हो, वहा क्षेपक मान लेने की द्वन्द्वात्मक इतिहास-बुद्धि को क्या कहा जाय ? जबकि क्षेपकों की प्रक्षिप्ति को भी जाँचने का आधार यही हो सकता है कि वृतात मूल काव्यदृष्टि और अतर्वर्स्तु से मेल खाते हैं, या नहीं ।

कोई भी वस्तु सवाल से ऊपर नहीं। 'रामायण' में लिख दिये गये होने से ही कुछ नहीं हो जाता अगर कि लिखा गया हित में नहीं। जो-कुछ देश-काल और समाज से विसगत हो, उसकी कटु आलोचना जरूरी है। इसलिए बताना जरूरी होगा यह कि 'रामायण' के किन अशों से किसी समाज की क्षतियों हो रही हैं। यह नहीं कि कैकेयी-कौशल्या या राम-लक्ष्मण ने दशरथ और लव-कुश ने राम-लक्ष्मण का गला दबाया, या नहीं ।

'शम्बूक वध' स्वत ही 'रामायण' से विसगत इसलिए दिखाई पड़ता है कि वह राम की अवधारणा, या कहें कि काव्य की अतर्वर्स्तु (करुणा) के विपरीत जाता है। 'शम्बूक-वध' इस बात का प्रतीक है कि कुकूत्य जितने बड़े व्यक्ति के द्वारा हो, उतना ही और वीभत्स हो जाता है।

वाल्मीकि से बड़ी इतिहासबुद्धि का दावा रखने में कुछ नहीं रखा। जो खुद के लिखे से अपने ही समय में सौ-पद्यास लोगों की सवेदना और आस्था तक का केन्द्र बनने का

सामर्थ्य नहीं रखते हो, उन्हे हजारों सालों से व्यापक मानव समाज की स्मृति और आस्था का केन्द्र बने महाकाव्यों पर उगली उठाने से पहले इतना जरूर देख लेना चाहिए कि उगली का रुख किस तरफ है।

द्वन्द्वत्मकता के सत्य सामान्य नहीं, लेकिन छूठ से इन्हे पाना असम्भव है। लाखों-करोड़ों लोगों की सवेदना और आस्था पर कोडे फटकारने से पहले, इतना बहुत ध्यान से देख लेना जरूरी होगा कि हमारे हाथ क्या हैं- सच या छूठ ? जिस तरह के अध्यतकों की बौछार 'रामायण' पर हो रही है, ऐसी कुरान, बाइबिल, हजील, जावेस्टा या गुरुग्रन्थ साहब वगैरह पर हो, तो इसे भी सिवा एक घृणित और खतरनाक काशिश के और कुछ नहीं कहा जायेगा।-- क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा, ऐसा सिर्फ तभी किया जा सकता है, जब उद्देश्य एक समुदाय-विशेष की आस्था और सवेदना पर कोडे फटकारना हो।

इतिहास्कार या शोधकर्मी का साध्य सवेदना नहीं। ये सवेदना के सवाल को हाशिये पर रख सकते हैं और यह काफी हद तक उनके कार्य का जरूरी अग भी हो सकता है, लेकिन लेखक का काम सवेदना से खिलवाड़ नहीं।--- क्योंकि आदमी को सवेदना ही नहीं, बल्कि विद्यार के धरातल पर भी कब, कहा, कैसे और कितना स्पर्श करना चाहिये, इसका लेखक से बड़ा घितेरा कोई नहीं। एक पूरे समाज की तो बात ही छोड़ दें, नितात सामान्य सड़क पर के आदमी की सवेदना से भी लेखक खिलवाड़ कभी नहीं कर सकता, क्योंकि उसका तो सारा ताम-ज्ञास ही सवेदना की धुरी पर टिका है। सवेदना से खिलवाड़ उसे ले डूबता है।

आज हम कुरान पर कीचड़ उछालें, और कल मुसलमान इसके विरोध में हगामा खड़ा करें, तो इसे साम्प्रदायिकता का विस्फोट करार दिया जाय, ऐसी विकृत धर्मनिरपेक्षता से बच रहने में ही कुशल होगी। धर्मनिरपेक्षता का मतलब दूसरों की सवेदना और आस्था से मनमाना खिलवाड़ करने की छूट नहीं होता। हिन्दी के ऐसे तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी बुनियादी तौर पर खलबुद्धि हैं, जो पहले हिन्दू समाज की सवेदना और आस्था पर कोडे फटकारने और फिर इसकी प्रतिक्रिया को हिन्दू साम्प्रदायिकता का विस्फोट करार देने की बुद्धिमानी दिखाना जरूरी समझते हैं। ऐसे तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी, इस तरह की गतिविधियों से कट्टरपथी साम्प्रदायिकों के आधार को ही मजबूत करते हैं।

इतना फिर कहना है कि अगर यह सच हो कि महाराज दशरथ की हत्या की गई थी, राम प्राणभय से जगल में भागे थे और अत में लव-कुश ने भी राम-लक्ष्मण का गला दबाकर, नदी में डुबोते हुए, एक सामान्य 'पैलेस इंट्रीग्ज' की स्वाभाविक परिणति को ही चरितार्थ किया था, तो यह सचमुच सत्ता के द्वन्द्व के द्वन्द्वत्मक सत्य का ही प्रमाण होगा, लेकिन इसे सच साबित करने के लिए सिर्फ आपके स्वत स्फूर्त अनुमान ही काफी नहीं होगे। क्योंकि तब हम भी इस अनुमान को स्वीकृत होंगे कि रामायण-काल में, लव-कुश के इशारे पर, राम-लक्ष्मण का मृत्यु होने का काम कहीं आखिं ब्राह्म नहीं तो नहीं किया

गया? ---क्योंकि जिस स्वत स्फूर्ति इतमीनान के साथ आपने लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण की (सामन्ती) हत्या का क्षेपक छोड़ा है, उसमे लगभग चश्मदीद गवाहो वाला तेवर है।

आप हम यह भी बतात हैं कि-

‘सिंहासन के लिए सघर्ष की यह स्वाभाविक और तार्किक परिणति ही थी कि राम के साथ भी वही हुआ, जो उन्हाने या भाइयों ने दशरथ के साथ किया था। यानी यहा भी वास्तविक उत्तराधिकारी (लव-कुश) तपस्वी वेश मे ही जगल मे बढे-पले हैं और सिंहासन के लिए बाकायदा बाप-चाचाओं से युद्ध करते हैं- या यह ठीक वैसा ही युद्ध है, जो महाभारत मे हुआ, सोहराब-रस्तम के बीच हुआ या जहागीर ने अकबर के खिलाफ तलवार उठायी--- अतीतवादी किसी-न-किसी तरह उस सबको आज के मानक से भी सही महान् सिद्ध करता है। इसके लिए याहे उसे विज्ञान को वहों ठूसना पडे, शास्त्रों की मनमानी व्याख्या करनी पडे या फिर मूल पाठ के ही कुछ अशों को हर नये युग मे क्षेपक सिद्ध करके तोड़-मरोड़ करना पडे। (‘हस’- सयुक्ताक १६८, पृष्ठ -३०)

महामते

विज्ञान को भाड में झाँककर, कोरे काल्पनिक मिथको को आज के मानक से भी सही और महान् बताने वाले अतीतवादी स कम खतरनाक वह वर्तमान या भविष्यवादी नही होता, जो पुणमिथको का आज की ‘माया-मनोहर-नृतन कहानियों’ - मार्क अपराध-कथाओं की नकल मे सामनी ‘पैलेम इट्रीज’ करार दता हुआ, उनमे मनमाने क्षेपक जड़ता जाए।

आपने यह भी स्पष्ट नही किया कि किसी अतीतवादी के द्वारा मिथक-कथाओं मे विज्ञान ठूसे जान की तुलना में, किसी जनवादी के द्वारा महाकाव्यो मे स्वय के विकृत अनुमान ठूसना कैसे विज्ञानसम्मत होगा ? जहा तक तोड़-मरोड़ का सवाल है, कसर ता इसमे आपने भी नही रखी, भते ‘ पहले राम-लक्ष्मण से दशरथ और फिर लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण का गला मराडवाने का किस तर्क से तोड़-मरोड़ की श्रेणी मे नही रखा जायगा ?

उठाई होगी जहागीर न अकबर के खिलाफ तलवार- लैकिन, अतीतवादी होने के बावजूद, हम तो ‘रामायण’ के खिलाफ उठी आपकी कलमकटारी की घमकार ज्यादा रोमाचक प्रतीत हो रही है । हम बाबा साहब को रो रहे थ, आप ‘बाबाआदम’ निकले ।

क्षेपकशिरोमणे,

सचमुच अधेर मे हैं। रास्ता दिखाएँगे। आप काई सामान्य लेखक नही। विश्व साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ, रघुना और आलाचना की एक गहरी दीक्षा और अनुभव-सम्पदा है आपके पास। आपके सामने मरी कोई हैसियत नही। लोग आपके लिख का ही महत्व दो, मरे नही। लैकिन फिर भी इस बिन मॉगी की छेड़क्षाड को क्षम्य मानग, क्योंकि इसके पीछे छेड़ने के अतीतवादी शौक मे छेड़क्षाड का इरादा नही, बल्कि

यह अनुभव और विश्वास है कि बिना दिंडोडे-झकझोरे न पेड से कुछ प्राप्त किया जा सकता है, न विद्वन् से ।

राम -राम ।

आपका

शैलेश मटियानी

[हस सयुक्ताक १६८८ मे तीन चौथाई सक्षेप के बाद प्रकाशित]

सेवा मे,
श्री राजेन्द्र यादव,
सम्पादक-‘हस’,
दिल्ली- ११००२

राम का नाम

नवी से दसवी लोकसभा के चुनाव के बीच की अवधि में राम का नाम 'वोटबैंक' या हिन्दू मानस के ध्रुवीकरण के मुकाम तक पहुंच गया, तो इसे भाजपा की चुनावी राजनीति का करिश्मा करार देना, क्या सचमुच स्थिति का सही-सही आकलन करना होगा ? या कि इस मामले के कुछ और पेंच भी होंगे ?

माना कि भाजपा की कमण्डल-राजनीति के भारतवर्ष-जैसे विशाल तथा अनेकानेक ऐतिहासिक-साम्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक तथा भौगोलिक पृष्ठभूमियों वाले देश को देखते, कुछ नितात स्वाभाविक और नाजुक खतरे भी होंगे- और इनमें बहुधोषित हिन्दू पुनरुत्थानवाद की देश के अन्य समुदायों पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का सकट भी जरूर शामिल होगा- लेकिन पहली बात तो यह कि मण्डल की जातिवादी राजनीति की शतरज बिछाने के बाद कमण्डल-राजनीति की भर्त्सना का नीतिक या राजनैतिक तर्क ही कहा बच रहेगा ? दूसरे, जब अल्पसमुद्यकों के राजनीतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया स्वाधीनता के तुरत बाद ही शुरू कर दी गई हो, तब बहुसम्मुख्यकों के ध्रुवीकरण की सम्भावनाओं पर मुह बिचकाने से बात बनेगी कैसे ?

स्वाधीनता-बाद के लगभग घार दशकों तक, सत्ता-समीकरण की दृष्टि से, देश के राजनीतिक परिदृश्य में लगभग नेपथ्य में ही विद्यमान रहने वाली हिन्दू राष्ट्रवादी भाजपा अगर पिछले कुछ ही वर्षों में सत्ता-राजनीति की एक मुख्य दावेदार के रूप में सामने खड़ी दिखाई दे रही है, तो जाहिर है कि इससे पहले नेपथ्य में पड़े रह जाने और अब मुख्यमंड पर आ धमकने के भी कुछ बुनियादी कारण होंगे जरूर ! क्या राम का नाम इन बुनियादी कारणों में से एक कहा जा सकता है ? यदि हों, तो देश के राजनैतिक महासमर में राम का नाम जपते हुए शामिल होने की कूटनीति क्या भाजपा को अब कहीं जाकर पहली बार सूझी होगी ?

जाहिर है कि कारणों के भी कुछ अपने कारण हैं और ये आज मुह उघाड़े सामने हैं, तो इस स्थिति का प्रस्थान-बिन्दु उस भाजपा को नहीं माना जा सकेगा, जिसे कई बार

अपना नामातरण तक करना पड़ चुका है और जिसका स्वाधीनता सग्राम के दौर में कोई पृथक् राजनैतिक अस्तित्व ही नहीं था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भी कुल जमा हैसियत तब सामुदायिक सगठन-मात्र की थी। ऐसी स्थिति में अगर राम के नाम या राम जन्मभूमि के मुद्दे को हम भाजपा के देशव्यापी राजनैतिक धुक्काकरण का केन्द्रबिन्दु माने भी, तो देखना जरूरी होगा कि ऐसा राम जन्मभूमि का ताला खुलवाने में एकमात्र भागीदार काग्रेस पार्टी क्यों नहीं कर पाई ? -- दूसरे, धर्मनिरपेक्षता का जो अभियान, एक लम्बे समय तक, हिन्दू बहुसंख्यकों के कांग्रेस के ऊपर ही टिका रहा - उसका सारा श्रेय अगर काग्रेस को ही था, और है, तो काग्रेस पार्टी के ज्यो-का-त्यो बरकरार होते भी, यह आज इतनी बुरी तरह लड़खड़ा क्यों गया है ?

सच्चाई यही है कि हिन्दुओं का एक बहुत बड़ा तबका ही उस घोषित धर्मनिरपेक्षता का मूल आधार था, जिसे काग्रेस पार्टी ने, अल्पसंख्यकों की राजनीति खेलने की धान्नाकी और मुसलमान नेताओं के निहित स्वार्थों की रक्षा में, धार्मिक कानूनों के घोर-दरवाजों से सविधान को ही एक शुद्ध साम्प्रदायिक सविधान की शक्ति दे डाली। यह बात यहां इसलिये कि ताकि इस वास्तविकता को रेखांकित किया जा सके कि राज्य की धर्मनिरपेक्षता मूलत भारतीय स्वतंत्रता की देन रही है- काग्रेस, कम्यूनिस्ट पार्टियों या जनता दल की नहीं, जो कि आज धर्मनिरपेक्षता के एकछत्र अलम्बरदार होने का दावा कर रहे हैं। और चूंकि धर्मनिरपेक्षता, अर्थात् देश के धर्म से ऊपर होने, की अवधारणा को वास्तविक आकार देने में हिन्दू समाज की ही भूमिका मुख्य रही है, इसलिये आज भी व्यापक हिन्दू समाज का सवेदनात्मक या राजनैतिक प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं को हाशिये पर डालकर, धर्मनिरपेक्षता का सिर्फ पाखण्ड ही किया जा सकता है, क्योंकि भारत में बहुसंख्यक हिन्दू ही धर्मनिरपेक्षता का मुख्य आधार हो सकते हैं।

भाजपा को साम्प्रदायिक पार्टी करार देने वाली तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों का मूल चरित्र अल्पसंख्यकवादी तथा जातिवादी गोने से, यह इनके वश की बात ही नहीं कि ये भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का व्यावहारिक प्रतिफलन सम्भव बना सके। भाजपा को एक किनारे हटाते ही भारत का धर्मनिरपेक्ष ढाचा चरमराकर बिखर जायेगा। इसलिए भाजपा को अगर राजनैतिक शिक्षित भी देनी हो, तो राम के नाम या रामजन्मभूमि के मुद्दे को 'हिन्दू फासिज्म' की हिकारत-भरी सज्जा देने से पहले, इस सवाल में जाना जरूरी होगा कि भारत के सन्दर्भ में राम के नाम का मतलब क्या है। यह भी कि इस राम-नाम के ततु फैले कहा-कहा तक है और कितनी गहराइयों में।

भाजपा को राम-नाम या राम जन्मभूमि के सवालों की एकछत्रता सौंपने ही हिन्दू-समाज के कम-से-कम पद्धास प्रतिशत लोगों को भाजपा से जोड़ देने की पहल अपने-आप ही हो जायेगी, क्योंकि हिन्दू समाज भाजपा के कारण राम-नाम या राम जन्मभूमि से नहीं जुड़ा और अगर भाजपा इसका राजनैतिक लाभ उठाना चाहती है, तो बाकी की राजनैतिक पार्टियों को, भाजपा को खतरा करार देने से पहले जरा खुद का मुखड़ा भी दर्पण में देख जरूर लेना चाहिये।

गांधी का कट्टरपथी हिन्दू कहना कट्टरपथी मुसलमानों तक को आसान नहीं ही होगा, और अगर गांधी अपने राजनीतिक सघर्ष के गहनतम क्षणों में 'रामराज्य' की अवधारणा तक पहुंचे थे, तो किसी धार्मिक उन्मेष में नहीं, बल्कि शताब्दियों की दासता के बाद भी भारत की अत्यन्तमा में अत सलिला की भाति विद्यमान उस रामनामी सस्कृति के न्यातों का न्याक्षात्कार करके, जो इस देश के बहुसंख्यक समाज की सासों में समाई हुई है। म्मरण रहे कि किसी भी देश में वहा के बहुसंख्यकों को हाशिये पर डालकर, कोई स्मकारात्मक पहल कभी की ही नहीं जा सकती, क्योंकि अल्पसंख्यकों का हमलावर के न्यूप में बहुसंख्यकों पर हावी हो जाना अलग बात है और बहुसंख्यकों के बीच साझा जीवन चलाना बिलकुल दूसरी बात।

भारत के मुस्लिम शासकों की यह गहरी राजनीतिक दूरदर्जता थी कि उन्होंने अग्रेजों की तरह बहुसंख्यक हिन्दुओं को गुलामों की शक्ति देने की कठमगजी नहीं दिखाई। जिसे हम हिन्दू-मुस्लिम साझेदारी कहेंगे, इसका बहुत बड़ा श्रेय उन मुसलमान शासकों को जाता है, जिन्होंने भारत के सास्कृतिक वितान को उजाड़ने की जगह, अपने को उससे जोड़ लेने की पहल की और परिणाम के तौर पर वह हिन्दू-मुस्लिम साझा रग लाया, जिसे यहा की सास्कृतिक विरासत ही नहीं, बल्कि देश के अधिसंख्य गावों की सामाजिक-आर्थिक जीवनप्रणाली में भी नितात पारदर्शी स्तरों पर देखा जा सकता है।-- और कहना होगा कि अगर इस देश में सबमुच्च धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा की जानी थी, तो भारत के हिन्दू-मुस्लिम साझा आबादी वाले गावों को केन्द्र में रखकर, वहा से सबक सीखा जाना चाहिये था, लेकिन यूकि देश के दुर्भाग्य से काग्रेस-जैसी शुद्ध औपनिवेशिक नेतृत्व वाली राजनीतिक पार्टी के हाथों में सत्ता की बागडोर रही, इसलिये वो शहर राजनीति के केन्द्र में आ गये, जिनके अल्पसंख्यक नेतृत्व की जड़ें भारत की मिट्टी में न होकर, सिर्फ किताबी इस्लाम में रही हैं।

यहां, राम-नाम के प्रसग में, किताबी इस्लाम का जिक्र इसलिये कि धर्म को देश के हिसाब से चलाने के नतीजे बिलकुल अलग होगे और देश को धर्म के हिसाब से चलाने के बिलकुल अलग। धर्म को देश के हिसाब से चलाने की प्रक्रिया के परिणाम भारत के गावों के हिन्दू-मुस्लिम साझे में देखे जा सकते हैं-- और देश को मजहब के हिसाब से देखने के दुष्परिणाम उस शहरी मुस्लिम सिमासत में, जो एक पाकिस्तान पैदा कर चुकने के बाद भी अपने में कोई बुनियादी बदलाव नहीं ला पाई है और आज का यह हिन्दू पुनरुत्थानवाद इसीकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया में उदित हुआ है, जो इस्लामी कट्टरपथियों की नकल में 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के नारे उछालते में इस सद्याई को भूल ही जा रहा है कि गलत की नकल भी हर हाल में गलत ही हागी।

इतना मानने में कोई एतराज किसी को नहीं होना चाहिये कि अगर राष्ट्रीयता के वस्तुगत अर्थ से शून्य राष्ट्रवाद निर्णायिक आकार लेगा, तो इससे देश की अत्यन्त ही गम्भीर क्षतिया होगी जरूर क्योंकि राष्ट्रवाद मनुष्य के मानविक-सामाजिक या कि सस्कृति और समाज के मानवीय सरकारों की समझ से शून्यता का ही दूसरा नाम हुआ

करता है। --लेकिन अगर किताबी इस्लाम की रट बढ़ती गई, तो किताबी हिन्दूत्व भी जड़े पकड़ेगा जरूर और अतत देश की राजनीति में दोनों ओर से ऐसे तत्व हावी होते जाएंगे, जिनकी जड़े, जैसा कि पहले ही कहा, किताबों में हैं- भारत की मिट्टी के भीतर नहीं। जबकि अगर किताब मिट्टी से जुड़ी नहीं, तो शैतान के हाथों की बाहिल है।

कालातर में हम इस्लाम का वह रूप भी देख सकते हैं, जिसने 'रामनाम' को मुसलमान को कुफ्र करार देने से साफ छंकार कर दिया। क्या यह कोई मामूली तथ्य है कि अनेकानेक मुसलमान कवियों-संतों के द्वारा राम-नाम को अपने काव्य ही नहीं, बल्कि जीवनपद्धति तक में शामिल करने की शुरुआत मुसलमान शासकों के राज्यकाल में हुई हिन्दू राजाओं के शासनकाल में नहीं।

हमें इस ऐतिहासिक सच्चाई को भी ध्यान में रखना ही होगा कि आखिर क्यों कर सम्भव हुआ कि मुसलमान शासकों के राज्यकाल में बने हिन्दू-मुस्लिम साझे को अरेज कूटमगजों के लिये भी तोड़ना आसान नहीं ही हो सका। जबकि आज हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षता का ठोल गले में लटकाये धूमने वाली तमाम राजनैतिक पार्टियों के दौर में हिन्दू-मुस्लिम दंगों का जहर अब गावों की तरफ भी बढ़ता जा रहा है और देश की सामाजिक एकत्रिता के लिये सबसे खतरनाक यह शहरों की राजनैतिक गन्दगी का गावों की तरफ पाव फैलाते जाना ही है।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि ताली एकत्रफा कभी नहीं बजेगी। अगर साझेदारी बढ़ी थी, तो इसमें भी हिन्दू-मुसलमान, दोनों के हाथ लगे होंगे और इसके बिखरने का अदेश बढ़ रहा है, तो इसकी जिम्मेदारी भी दोनों पर ही आयद होगी जरूर। लेकिन फिर और जोर देना होगा इस बात पर कि रामनाम या रामजन्मभूमि के मुद्दों पर अगर भाजपा को देश की राजनैतिक मुख्यधारा से काट फेंकने की खतरनाक साजिश की गई, तो धर्मनिरपेक्षता की सारी लंतरानिया हवा में छूलती रह जाएँगी, क्योंकि भारत में धर्मनिरपेक्षता की कोई भी सभावना सिर्फ बहुसंख्यक हिन्दुओं के साझे में ही आकार ले सकती है। पाकिस्तान के बाद भी भारत हिन्दू राष्ट्र नहीं बना, तो इसका कारण हिन्दुओं का कट्टर धर्मवादी नहीं होना ही है।

इसलिए, भाजपा पर हिकारत बरसाने से पहले, बहुसंख्यक हिन्दुओं के मानस में उभरे उद्देश्नों को बहुत धैर्य और ध्यान से देखता होगा, क्योंकि इतना तय समझ लिया जाए कि जब भी राम का नाम हवा में गूजेगा, इसकी अनुगूज देश के उस कोने-कोने तक पहुँचेगी जरूर, जहा कि हिन्दू रहते होंगे।-- क्योंकि राम का नाम हिन्दू समाज की सर्वोच्च सास्कृतिक-ऐतिहासिक/सामाजिक ही नहीं, बल्कि बाकायदे भौगोलिक उपलब्धि भी है।-- और आज अगर भाजपा इसे अपनी राजनैतिक धुरी बनाना भी चाहती है, तो इसे व्यापक हिन्दू समाज के सवेदनात्मक उद्देश्नों पर धूल डालकर रोकना सम्भव हो नहीं सकेगा, क्योंकि जहा एकबार हिन्दू सवेदना का धुवीकरण हुआ, वह अगर अपनी आकाश्चाओं का प्रतिबिम्ब भाजपा में नहीं देख सका, तो कोई और विकल्प खोजेगा जरूर,

इस खतरे की छालक १६८४ में काग्रेस भी दिखला चुकी है।

इसके अलावा, राम-नाम के बहाने, इस सवाल को सामने रखना भी अप्रासादिक नहीं ही माना जाय कि किसी देश के वर्तमान और भविष्य में उसके अतीत की भी कोई भूमिका हुआ करती है, या नहीं। होनी चाहिये, या कि नहीं ? जाहिर है कि इस्लाम का अतीत, भारत के संदर्भ में, सही प्रायने- या निषायिक तौर पर- इतना बड़ा नहीं कि हमारी स्मृति का सिरा वहाँ तक जाकर ठहर जाय।

स्मृति ही मनुष्य की मुख्य धूरी है और आदमी का संवेदनात्मक ही नहीं, बल्कि बौद्धिक संसार तक सिर्फ इस एक बात पर निर्भर होता है कि उसकी स्मृति कहाँ तक जा सकती है, क्योंकि स्मृति का सिर्फ एक ही छोर नहीं होता। स्मृति जितनी दूर तक अतीत, उतना ही भविष्य में भी जायेगी जरूर । आने वाली सातवीं पीढ़ी के लिये वृक्ष लगाने की फिक्र और ऐसी नैतिक-सामाजिक प्रतिश्रुति, स्मृति में से ही आकार लेती है। जो अपने जीवन में पिछली सात पुश्तों की भागीदारी देख सके, सिर्फ वही लोग आने वाली सात पीढ़ियों की विता भी कर सकते हैं। अपकर्म करते उनके हाथ ही इस विता में कांप सकते हैं कि इसका असर हमारी आने वाली सातवीं पीढ़ी तक भी जा सकता है और वही लोग अपने जीवनकाल में फल की लालसा से भी मुक्त रह सकते हैं, जो देख सकते हों कि उनके लगाये वृक्षों के फल अगली किसी पीढ़ी तक पहुंच सकते हैं। इस अर्थ में स्मृति संवेदना की मुख्य धूरी ही नहीं, बल्कि आदमी की तीसरी आंख भी है और कुछ भी सही और पारदर्शिता में सिर्फ वही व्यक्ति देख सकता है, जो स्मृति से भी देख सकता हो, क्योंकि काल के तीनों आयामों में सिर्फ स्मृति की ही गति हो सकती है, आँखों की नहीं। बल्कि आँखों से भी सही वही देख सकता है, जो स्मृतिवान हो।

राम का नाम व्यापक हिन्दू समाज की स्मृति का सांस्कृतिक और संवेदनात्मक उद्गम है। और चौंकि यह नाम राजनैतिक नहीं, बल्कि महाकाव्यात्मक उत्पत्ति है, कहना चाहिये कि भारत की जातीय संवेदनात्मक सृष्टि, इसलिये इसने देश और काल की उन सीमाओं का भी अतिक्रमण किया है, जो हिन्दुओं के अस्त्र-शस्त्रों की परिधियों में कभी नहीं आये। शस्त्र की जगह संवेदना से विस्तार की दृष्टि से राम का नाम पूरी पृथ्वी पर का अनन्य है और कदाचित कभी संसार को आज के क्षुद्रबुद्धि खल राजनेताओं से निजात मिली- और मनुष्य अपनी स्मृति के महाविराट में विद्यरण को स्वाधीन हुआ- तो यह चमत्कार भी बिल्कुल सम्भव हो सकता है कि राम का नाम हिन्दुओं की सीमा से इतनी दूर-दूर तक निकल जाय कि पृथिवी के हर कोने में कबीर का राम उपस्थित दिखाई पड़े। राम का नाम महाकाव्यात्मक संवेदना की सृष्टि है, और महाकाव्यों के थपेड़े पृथिवी के किसी भी कोने तक जा सकते हैं, क्योंकि आदमी सर्वत्र है।

बहरहाल भविष्य की बात को तभी के लिये छोड़ते हुए, पुन इस प्रसाग में लौटा जाय कि स्मृति और अतीत के बीच के सेतु क्या हुआ करते हैं ? और क्या कारण है कि इतिहास की किताबें स्मृति का केन्द्र नहीं बन पातीं ? एक कारण इतिहास का मानवीय अतीत की तुलना में बहुत कम उम्र का होना भी माना जा सकता है, दूसरा- संवेदना की

जगह घटना पर जोर होना भी। जबकि, जैसा कि पहले ही कहा- सवेदना और स्मृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इस सन्दर्भ में, राम-नाम या कि रामजन्मभूमि के मामले में विष्यात मान लिये गए इतिहासविद् सर्वथ्री गोपाल, गणिता थापर और निपिनचत्ता तथा अन्य का उल्लेख भी इसालेय कि इन्होने रामजन्मभूमि के मामले में यह गयुक्त ऐतिहासिक फतवा दिया कि इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं कि राम का जन्म हुआ भी था कि नहीं।

इतना ही नहीं, 'भारतीय राजनीति के विशद सम्प्रदायीकरण' की किता में व्याकुल इन इतिहासविदों ने यह दावा भी किया कि- 'जब साम्प्रदायिक ताकतें साम्प्रदायिक धालों को ही ऐतिहासिक तथ्य के रूप में समुपस्थित करें, तो इनिहासकार को अपना दायितव्य निभाना ही होगा।' लेकिन इस तथ्य को इन सभी इतिहासविदों ने जान-बूझकर ओझाल कर दिया कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति ही नहीं, बल्कि नियति तक उसकी सवेदना और स्मृति के ततुओं से गुरुती होती है और इस जड़-इतिहासवाद की किताबों समझ से नहीं निबटाया जा सकता।

इन इतिहासविदों ने कही नहीं कहा कि राम का नाम बृहत् हिन्दू समाज की सास्कृतिक-धार्मिक विरासत है, और इसके तार भारत की भौगोलिक अवधारणा तक भी गये हैं, लेकिन विश्व हिन्दू परिषद् और भाजपा इसे साम्प्रदायिक आकार दे रही हैं। इनका जोर इस बात पर है कि- जिस राम के जन्म के ही कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं, उसकी जन्मभूमि का हो-हल्ला क्यों ?

इन जड़ इतिहासवादियों से यह सवाल पूछा जरूर जाना चाहिये कि खुदा का ऐतिहासिक प्रमाण इनके पास हैं क्या ? अगर नहीं, तो फिर मसजिदों के नाम पर हाय-तौबा क्यों ?

जाहिर है कि पार्टी के राजनैतिक मोहरों के रूप में अपनी जिम्मदारियों निभान के आदी जड़ इतिहासवादियों को पार्टियां द्वारा दिये गये चौखटों से बाहर जान की कूट नहीं हो सकती। अन्यथा रामजन्मभूमि के नाम पर 'भारतीय राजनीति का विशद सम्प्रदायीकरण' हो रहे होने से व्याकुल ये इतिहासवेत्ता 'भारतीय राजनीति में ग्वार्डीनता' के ठीक पहले से लेकर, आज तक चल आ रहे अल्पसंख्यक सम्प्रदायीकरण' का भी कुछ जिक्र करते जरूर, क्योंकि साम्प्रदायिकता के मामले में अल्प और विशद के तर्क का अल्प को सही बतान की चालाकी में इस्तेमाल तो किया जा सकता है, लेकिन व्य विश्वग्नीयता नहीं दी जा सकती।

अनेकानेक तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिवाले जड़ इतिहासवादिया की नीं भाति, 'रामायण' और रामकथा के स्वयंभू डार्विन, फ्रायड और मार्क्सवादी एक आधुनिक भाष्यकार^१ ने तो इससे आगे बढ़कर रामजन्मभूमि का रानी कौशल्या का प्रज्ञनि-कक्ष कहकर खिल्ली उडान में भी सकाच नहीं किया क्याकि उनके पाय भी ग्वय का

धर्मनिरपेक्ष , नेवारी- जनजाती लेखक सिद्ध करने का सिवा इसके कोई उपाय नहीं कि हिन्दू स्वेदना पर जितना धूक सको, धूको जरूर- लेकिन हजारत मुहम्मद साहब के जच्याखाने या ईसा के 'लेबर रूम' का हवाला उन्होंने नहीं दिया, क्योंकि साम्रादायिकता सिर्फ हिन्दुओं में होती है ।

जाहिर है कि इस कोटि के सारे तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादियों को सिर्फ हिन्दूवादी राजनीति से ही परहेज हुआ करता है । ये राम का नाम लेने वाले सारे हिन्दुओं को साम्रादायिक करार देते कभी नहीं चूकते । इस सवाल में इनकी कोई दिलचस्पी करतई नहीं हुआ करती है कि किसी देश-समाज के सन्दर्भ में उसके अतीत की भी कोई भूमिका होती है, या नहीं- और अगर होती है, तो इसमें स्वेदना और स्मृति के मानक क्या हुआ करते हैं ? इतिहास के पन्ने, या कि जीवन के महाकाव्यात्मक प्रोणन ?

अब अगर हम कहे कि राम का नाम भारत की ऐतिहासिक-आध्यात्मिक और भौगोलिक अधिरचना की महाकाव्यात्मक सरणि और अतीत तथा भविष्य के बीच का स्वेदनात्मक सेतु है, तो हम पर मुह बिचकान से पहले भारतीय समाज की सहस्राब्दियों के फलक पर उत्कीर्ण हुई उस राममयता का ध्यान से देखना जरूरी होगा, जो कि जन्म से मरण ही नहीं, बल्कि जन्मातरा के क्षितिजों तक भी जाती है ।

राम का जन्म हुआ था, या नहीं, इसके ऐतिहासिक प्रमाण नहीं, लेकिन राम का नाम भारत के विशद सास्कृतिक-सामाजिक और भौगोलिक वितान में किसी भी महानतम इतिहासनाथक से ज्यादा गहरे तक सहस्राब्दियों से विद्यमान रहा है, इसके ऐतिहासिक प्रमाणों की कोई कभी कभी नहीं रही है ।

भारतीय द्यन पर हिन्दू धर्म की अवधारणाओं के मामले में देखना जरूरी होगा यह भी कि यहा काल की गणना भी स्वेदना और स्मृति से निबद्ध है । दूसरे भारत के स्वस्कृतिक आध्यात्मिक-धार्षिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिदृश्य में भी, जहा तक विशद हिन्दू समाज का प्रश्न है, शुद्ध देवताओं की उपस्थिति नगण्य ही दिखाई देगी । इसीलिए भारत के सास्कृतिक-सामाजिक अतीत के केन्द्र में विष्णु या ब्रह्मा नहीं, बल्कि राम का नाम ही व्याप्त दिखाई पड़ेगा, जिसका कि कृष्ण ही नहीं, बल्कि बुद्धों तक विस्तार गया है ।

राम का नाम हिन्दू समाज के धार्मिक से पहले, आध्यात्मिक स्वेदनों और विश्वासों की आधारशिला रहा है । राम का देवत्व नहीं, मनुष्यत्व भारतीय समाज की आत्मा को ज्यादा सघनता और समग्रता में प्रतिबिम्बित करता है । और चूंकि धर्मनिरपेक्षता बिना आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के सम्भव नहीं है, इसलिए राज्य की वास्तविक धर्मनिरपेक्षता के लिये हर हाल में रामराज्य की अधिरचना के उन अन्त सूत्रों तक जाना ही होगा, जिनकी ओर कि भारत की समकालीन राजनीति के पितृपुरुष गार्धी का ध्यान गया था ।

देश-काल-समाज में अपेक्षाकृत वृहत्तर अतीत वाले बहुसंख्यकों की सवेदना के उत्सों को हाशिये पर हालकर, धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की सारी उद्धोषणाएँ अंतत सिवा एक सुनियोजित राजनैतिक चालबाजी के और कुद साबित होंगी नहीं, अगर कि राजनीति में अल्पसंख्यक-हिन्दू-खुदर का समीकरण घलाया जाय।

मनुष्य का सबसे बड़ा द्वंद्वशस्त्र-सवेदना के बीच का द्वंद्व है। आज भी विश्व शस्त्रों के मुहाने और सवेदना के हाशिये पर होने की त्रासदी की घपेट में ही खुलस रहा है। राम के शस्त्र (रामदाण) की परिधि सिर्फ रावणवध तक ही नहीं, बल्कि प्राणदायी औषधियों तक भी जाती है। हमारा आज का सबसे बड़ा सवाल राज्य के धर्मनिरपेक्ष से भी कहीं ज्यादा हिंसानिरपेक्ष होने का सवाल है। ऐसे में, साम्प्रदायिक दगों के मामले में भी राम और रामजन्मभूमि के सवाल को अल्पसंख्यकों के शक्तिपरीक्षण के मुकाम तक पहुँचाने के पीछे धर्मनिरपेक्षता की आकाश्चा नहीं, बल्कि अल्पसंख्यकों के संवेदनों से खुद के राजनैतिक टिक्कडे पक्के करने की चालबाजी ही काम कर रही होगी। ऐसे में जाहिर है कि हिंसा के रास्ते समाज नहीं, बल्कि राजनीति और राज्य में से निकलेंगे।

राम का नाम अगर आज भारत के राजनैतिक परिदृश्य के केन्द्र में आ गया है, तो इस पर हिकारत फटकारने से मामला सुलझेगा नहीं। राम के नाम को हिन्दू-मुसलमान के बीच के शक्तिपरीक्षण का विषय भी बनाया जा सकता है और हिन्दू-मुसलमान के बीच का सौहार्द-सेतु भी। अतत इसे हम क्या बनाते हैं, यही हमारे भवितव्य को भी निर्धारित करेगा।-- क्योंकि अगर हिन्दुओं के ध्रुवीकरण का एकमात्र साधन रामजन्मभूमि का विवाद ही हो, तो जाहिर है कि यह ज्यादा दूर तक टिकेगा नहीं।

राजनीति में राम का नाम लेने वालों को भी 'मन्दिर वही बनाएंगे और 'मदिर अभी बनायेंगे' की सीमाओं को पहचानना होगा, अन्यथा राम का नाम ज्यादा दूर, या देर तक उनके काम भी आयेगा नहीं, क्योंकि राम के नाम को भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक शुभाशुभ के सवालों से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

राम जन्मभूमि की स्थिति अगर आगले दस-बीस या सौ-पचास सालों तक भी यथावत बने रहे, तो इससे न राम को कोई फर्क पड़ना है और न राम के नाम, या कि उस काम को, जिसे कि राम के नाम से जोड़कर देखना जरूरी हो, क्योंकि राम के नाम से भारी प्रासारिकता, देश को शुभ होने में है।

तब इसमें क्या हर्ज होगा कि उन सारे सवालों पर एक आर-पार की बहस हो जाय, जो हिन्दू को मुसलमान से जोड़ने या कि इन्हें एक-दूसरे के खिलाफ करने के सवाल हैं? बहुत सम्भव है कि तब हमारी समझ में यह बात सचमुच आ जाय कि मौजूदा राजनैतिक पार्टियों इस बहस को क्यों टालती चली आ रही हैं।

सयुक्त मोर्चे की सरकार अगर चाहती, तो परस्पर यह बिलकुल तय कर सकती थी कि फिलहाल सिर्फ देश की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों में सुधार के लिये एकजुट होकर काम किया जाए। दो-चार साल बिना जातिवाद और जन्मभूमिवाद के भी काम घलाया जा

सकर्ता था, लंकिन साल-भर में ही मण्डल आयोग की सिफारिशों का जहरीला साँप टाकरी से बाहर निकाल लिया गया, तो राम के नाम की राजनीति का रास्ता भी खुलना ही था ।

ऐसे में अगर आज राम के नाम को देश के सांस्कृतिक नेपथ्य से बाहर निकालकर, राजनीति के मध्य पर ले आया गया है, तो जरूरी होगा कि राम के नाम को हिंदू-मुसलमान के बीच का सेतुबध बनाया जाए । अर्थात् मामले को अंतिम संभावना- या सभावना के अंतिम क्षण-तक शास्त्र (बहस) और संवेदना से ही तथ करने के रास्ते खुले रखे जाएँ । राम का नाम देश की सौंसाँसोंमें समाया हुआ है । इसे सौंसाँस बनाने से बचना जरूरी होगा ।

हिंदू-मुसलमान का सवाल

हिंदू और मुसलमानों के बीच के झगड़ों का एक लबा इतिहास है, जिसकी एक तसवीर बाहरी हमलावरों और मूल निवेशियों के बीच के युद्धों की भी रही है और यूकि इतिहास के पन्नों की गवाही भी इन्हे पलटने के उद्देश्य से जुड़ी है, इसलिए इतना हमेशा ध्यान में रखना होगा कि मतव्य क्या है, क्योंकि 'जाकी रही भावना जैसी' का तर्क सिर्फ 'प्रभु-मूरत' तक ही नहीं, बल्कि प्रत्येक कर्म तक जाता है।

हिंदू-मुसलिम के बीच के युद्धों और झगड़ों का इतिहास खगालते में भी भावना का प्रश्न सतत उपस्थित हागा। अर्थात् जैसा उद्देश्य, इतिहास से तैसा अर्थ निचोड़ निकालने की पूरी गुजाइश होगी। मसलन अगर उद्देश्य मुसलमानों को विदेशी हमलावर और प्रकृति से ही मजहबी सल्तनतवाद, विजातियों के बलात धर्मातरण की हवस व खँूरेजी का आदी करार दे कर, हिन्दुओं से इनके सामाजिक मेल-मिलाप की सभावनाओं से इकार हो, तब हिंदू-मुसलिम लड़ाइयों और द्वेषों का इतिहास भी यही बतायेगा। तब इसके न जाने कितने पृष्ठ मुसलमानों की मजहबी सल्तनत कायम करने की हवस और हिन्दुओं के बलात धर्मातरण और काफिरों के खून का प्यासा होने की गवाही बिल्कुल देगे। यह भी कि देश को एक बहुजातीय या अनेकधर्मी राष्ट्र की जगह, मजहबी सल्तनत के तौर पर देखने का नजरिया मुसलमानों के खून में रचा-बसा रहा है और पाकिस्तान इसी मजहबी सल्तनवाद की ही खूखार सृष्टि है।

अब यही हम हिंदू-मुसलिम दगा के पीछे पाकिस्तान, सी आइ ए, रहानी-मजहबी सल्तनवादी जुटों या भीतरी राष्ट्रद्वोही तत्वों का हाथ खोजने की जगह, इन दोनों के बीच के नासूर के ऐतिहासिक दस्तावेजों के उल्लेखों में जाने का अपना उद्देश्य इसलिए साफ-साफ प्रकट कर देना चाहेगा कि छिपे हाथों की बातों का सिलसिला बहुत बासी और बेमानी सिद्ध हो चुका है। हिंदू-मुसलिम विग्रहों की बुनियादी बहस का सवाल छिपे हाथों की तलाश के सवाल से कहीं बहुत गहरा और पेंदीदा सवाल है। इससे मुह चुरान की कोशिश ही हमे या हिंदू अतिवाद के बारे में ले जाती है या हिंदू साप्रदायिकता की भर्त्सना करके, खुद को धर्मनिरपेक्ष या मुसलमानों का हित दिखा सकने की उस थोथी वैद्यारिक

उदारता में, जो हमारी शक्ति निहायत नाकारा बिवौलियों की निकालती जा रही है। कम-से कम अब तो हमें इस बात का स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि हिंदू-मुसलिम दोनों की बाढ़ में इस थोथी वैद्यारिक उदारता अथवा नाकारा-बेवजूद धर्मनिरपेक्षता के सारे नटबद्ध रंत की दीवार साबित होत गये हैं।

व्यावहारिक छाड़, वैद्यारिक स्तर पर भी हमारे पाव कही, किसी जमीन पर नहीं टिके हैं। हिंदू साप्रदायिकता पर भौंकने-खौखियाने के हमारे मारे कार्यकलाप सिर्फ एक निष्प्रभावी बौद्धिक विनाप सिद्ध हो रहे हैं। वास्तविकताओं का नकार, स्थितियों को स्वयं के आग्रहों की जगह, वस्तुगत दृष्टि से देखने से इन्कार और तल्ख व बहसतलब सच्चाइयों से खुद को बचा कर चलने की होशियारी के चलते, हम हिंदू-मुसलिम साप्रदायिकता के जहरबाद की वस्तुगत पहचान से दूर, शुद्ध बौद्धिक तमाशबीनों और वागिवलामी सिद्धान्तवादियों के गिराह में बदलते गये हैं। सतह पर की सिद्धान्तबाजी से ही खुद की शक्ति को धर्मनिरपेक्षता के रग-रागन से चकाचक दिखा सकने का हमारा इनमीनान लगातार खोखला साबित होता और हमारा चरित्र, अपनी नीयत और नियति, दोनों में व्यवस्था के चरित्र की ही प्रतिच्छाया बनता गया है।

धीर-धीर, हिंदू-मुसलिम दोनों में पाकिस्तान या सी आइ ए अथवा अरबी खैरातों का छिपा हाथ तलाशन का नाटक करने वाले राजनेताओं की तर्ज पर, हिंदू बुद्धिजीवियों की भी एक ऐसी जमान अस्तित्व में आती गयी है, जिसका तान ठकुरसुहाती से आगे कभी नहीं जा पाती। जो किनार के पानी में टखनों तक खड़ा हो कर हिंदू-मुसलिम विग्रहों की मुख्यधारा से जूझता दिखाई पड़ता है। जिसे इस बात से कोई सरोकार नहीं कि उसकी यारी मुसलिमपक्षधरता अथवा हिंदू साप्रदायिकता के परखचे उडाने की उसकी वैद्यारिक मुहिम का दीवाला क्या पिटना गया है।

यह प्रस्तावना दृम्यरो पर तोहमत मढ़ने नहीं, खुद के नाकारा और निष्प्रभावी पड़ गय हान की तकलीफ में माझा खाजने की तलाश में हैं। कभी-न-कभी पहल करनी ही होगी, यह जानन की, कि राष्ट्रव्यापी मामाजिक सकट के बुनियादी कारणों की तलाश में आखिर कारे विद्यार के म्तर पर भी समर्थ क्यों नहीं हो सके हम ? हमारी नाना प्रकार की ऐतिहासिक, वैज्ञानिक अथवा मामाजिक दृष्टि-सपन्नताओं का क्या हुआ ? आज सबसे प्रथम भवाल इस वैद्यारिक धुध का ही है, जिसके चलते हम हिंदू-मुसलिम साप्रदायिकताओं के बनुयादी आधारों की पहचान में असमर्थ पड़ गये हैं।

बात को अब फिर वही ल जाने की पेशकश को मात्र क्षेपक न माना जाये कि इतिहास में जाने का सवाल उद्देश्य का भवाल पहले है, खोजबीन का बाद में। जैसा उद्देश्य, तैसे ही खोजबीन के नतीज निकला करते हैं। एक नतीजे का जिक्र पहले हो चुका कि मुसलमानों के साथ राष्ट्रीय एकात्मता, सामाजिक साझेदारी अथवा धार्मिक-सामुदायिक सहिष्णुता की गुजाइश निकालना मुश्किल है। यह हमारा बौद्धिक नतीजा-मात्र नहीं बल्कि बहुग्रन्थक हिंदू भगवान की धारणाओं और ग्रथियों का एक ठास ससार है। इस हकीकत

को छूठलाना हाथी को मलमल के गम्भें की ओट में करना है। यह आज के अधिसंख्य हिंदू समुदाय की उद्देलित तथा संक्रामक मानसिकता का सवाल है। इस बीड़ड सवाल को धर्मनिरपेक्षतावाद की पोली फैंक से उड़ाना खुद को मुगालतों और दूसरों को धोखे में रखने के सिवा कुछ नहीं। हम यहा काटे से काटा निकालने के तर्क से बहस में जाना और याहों अधिसंख्य हिन्दुओं के भीतर सुलगते उन सवालों को बहस के स्वरूप रखना, जिनके घलते धर्मनिरपेक्षता के लबादे में बहुधर्मी साप्रदायिकता की राजनीति की शतरंज खेलनेवाली व्यवस्था, लोगों की भावनाओं को सूखे पुआल की ढेरियों में बदलने में कामयाब हुई है।

भूमिका बेमतलब नहीं थी। अधिसंख्य हिन्दुओं की दिन-प्रतिदिन जहरीली और सक्रामक होती जाती मानसिकता का खुला साक्षात्कार मेरठ दगों के समय ऐसे मुहल्ले में घिरे रह जाने पर हुआ, जहा मेरठ शहर के पूरे इतिहास में मई १९८७ में कम्यूनलगाने की नौबत आयी। जहा देखा कि कैसे पहले पुलिस की छत्रछाया में अल्पसंख्यकों की खुली लूट और उनके भकानो-दुकानों ही नहीं, बल्कि मसजिद की होली जलाये जाये जाने की छूट के बाद, धर्मनिरपेक्ष सरकार के कारिंदे कम्यूनलगाने और फौज तैनात करने के काम को अजाम देते हैं। खुद ही आग लगाने और फिर खुद ही कूर के पानी में होल खड़खड़ाने की इस राजनैतिक अव्यारो का जवाब नहीं।

इस मुहल्ले में मुसलमानों की आबादी का प्रतिशत पाय-छह भी मुश्किल से बैठेगा और देखिए कि इस बार साप्रदायिकता की आग का दरिया यहा तक भी ठाठ मारता घला आया। किन्हीं नवाब साहब की बेटियों का पल्लू खींच लिये जाने से लेकर लूट और आगजनी की तमाम घटनाओं के बीच सिर्फ एक बूढ़े मुसलमान को भौजूद पाया गया। बाकी के सब तालाबदी करके भाग निकले। शायद, हम विश्वास में कि पुलिस-संरक्षा की व्यवस्था होते ही वापस लौट आयेंगे और ताले ज्यों-के-त्यों सही-सलामत मिलेंगे। मुहल्ले का इतिहास गवाह रहा है कि हिंदू-मुसलिम दगों की आग की मामूली-सी तपिश भी इस मुहल्ले से हमेशा दूर ही रही। इस बुलबुले का बैठते भी, शायद, ज्यादा वक्त नहीं लगेगा, लेकिन जहा लोगों के भीतर साप्रदायिक नफरत का भड़काने और इसे पेट्रोल की तरह भड़काने ही नहीं, बल्कि आग से खलने की छूट का भी इतजाम खुद धर्मनिरपेक्षता के पेशेवर धधेबाजों के हाथों म हो, वहा सारे सदिवश्वासों की दिंदिया उड़ जाने क, और अजाम क्या होगा ?

कम्यूनल में घिरे ही देखा कि इस हिंदूबहुल मुहल्ले की मानसिकता का हाल क्या है। घद नवयुवक बार-बार यही अफसोस प्रकट करे रहे थे कि उस बुइद्दे का जिदा निकलने देना ठीक नहीं हुआ। या तो शुरुआत करनी ही नहीं थी, या हिसाब चुकता कर लेना था। ले-दे कर एक कटुआ हाथ आया और उसे भी सिर्फ बदरों की सी खों-खों करके, जिदा भाग जाने दिया, इस नाकारापन पर लानत फेंक रहे थे हिंदू नौजवान। इतिहास को फलागने में कितना कम वक्त लगा था इन्हे ! अनक लोग लूट-खसोट की जगह आग में झोकने के पक्ष में थे। उन्हें लुटरों की मानसिकता शर्मनाक लग रही थी कल्प और आगजनी

में उन्हें हमेशा के दब्बू हिन्दुओं का पुनर्जागरण दिखाई दे रहा था।

तेर्हस की रात को अद्यानक हल्ला हुआ कि लालकुर्ती और सोजती गेट की तरफ से हमलावर मुसलमानों के जत्ये 'अल्लाहो अकबर !' करते मुहल्ले पर कल्ली धावा बोलने वाले हैं और फौजियों की टोली यहाँ से जाने कहां गायब है। बाद में पता घला कि फौजी खाना खाने गये और ट्रक खराब हो जाने से आधा घंटा देर से वापस लौट पाये। कुल मिलाकर यह लगभग एक घटे का वक्त- रात के बारह से लेकर एक तक का- जैसे पूरे मुहल्ले के हवा में टैंगी होने का वक्त था। और तो बच्चों को सुरक्षित जगहों में करने और सारे उपलब्ध असलहों से ले कर २००० जुटा कर अपनी रक्षा खुद करने की बदहवासी और डींगों का बड़ किला लबा बक्त लोगों के ऊपर दृष्टारी नगो तलवार की तरह टगा हुआ था और बाहर का सारा सन्नाटा लोगों के शोर के दबाव में उनके भीतर उछाल भार घुका था।

आदमी का दूसरा पर कहर बरपाने की स्थिति में होना उसे कैसे 'बर्बर-बेखौफ जानवर' बनाता है और खुद का असुरक्षा और दहशत की गिरफ्त में होना अस्तित्व-भव्य में धरथराता आदमी। हमला बोलने और हमले की गिरफ्त में आने में कितना फर्क है। और ये दोनों स्थितिया तब कितनी विदारक हो सकती है, जब एक ही देश और नियति के सौँझी नितात बर्बर, सवेदनहीन और किसी भी प्रकार की करुणा-विवेकव्येतना को 'आखिरी सलाम' बोल द्युके, एक-दूसर के जानोमाल के प्यासों की खोफनाक शक्ति में आमने-सामने हाँ ?

क्या कभी हम इस सवाल में गये कि इस प्रकार के २००० जिल्हों ५००० होने वाले खोफनाक और बर्बर परिदृश्यों का हमारी सवेदना और घेतना से कहा तक का वास्ता है? कहा तक का हाना चाहिए? क्या हम सधमुद्य इतजार में हैं कि देखे बर्बरता और हैवानियत के ये जुलूस छिटपुट शहरों की हड्डों तक ही कब तक कायम रहते हैं? यह साप्रदायिकता की आग में जिंदा ही मुनते लोगों की चीखें हमें साप्रदायिक सुरक्षा की घेतना को किला मजबूत करती हैं? क्या हम सधमुद्य यहीं देखना चाहते हैं कि आखिर-आखिर हिंदू-मुसलमानों का ध्रुवीकरण दो आमने-सामने की साप्रदायिक सेनाओं के तौर पर फैसलाकुन लड़ाई के मुकाम पर कब पहुंचती है? साप्रदायिकों को जहरबाद कब उस हृद से आगे बढ़ता है, जहा बाट की राजनीति के धर्योंबाज इसे खुद के इस्तेमाल के लिए बनाये रखना चाहते हैं? मेरठ के हाल के हिंदू-मुसलिम दगों के बाद क्या यह हकीकत अपने नांग-धड़ंग रूप में सामने नहीं आ गयी कि राजनीतिक सपेरे साप के टोकरों का धृष्टि कारब रखना चाहते हैं?

यहाँ, बिल्कुल यहाँ, हिंदू-मुसलिम दगों के पूर्व-नियोजनों की असलियत भी साफ पहचान में आ जाती है। आ जानी चाहिए। इसे पहचानने से इनकार अपने विनाश को पहचानने से इनकार के सिवा कुछ न होगा, क्योंकि इस पूर्व-नियोजन की रफ्तार अब बढ़ती ही जा रही है। दगों को एक खास हृद तक भढ़काने और फिर एक खास सरहद

पर इनका मुह दबा कर सिर्फ तीन दिनों में स्थिति को काबू में कर लेने में कामयाबी के दावदारों को पहचानने से इन्कार, पूरे मुल्क को आत्मविनाश के हवाले कर देगा, क्योंकि साप तो एक बार अगर बिना जहर का भी सूघ ले, तो प्राण सूख जाते हैं- इनकी पिटारियों में तो जहर के इजेक्शन दिये गये सापों का जमावड़ा है। इनकी सकामकता का दायरा मुहल्लों-सड़कों के किनारे खड़े उन लोगों तक फैल चुका है, जिनकी न प्राथमिकताएं दगे-फसादों की हैं, न ही कामनाएँ। जो व्यवस्था के पूर्व-नियोजन से घनीभूत मजहबी जहरबाद और उन्मादों के अधेरे की दहशत में साप्रदायिकता की मानसिकता के हवाले होते जा रहे हैं। जिन्हें अस्तित्वभय ने गोलबद्द कर रखा है। जिन्हें अविश्वास और भितरधात के अधे कुओं की दहशत में ज़कड़ दिया गया है। जो सत्ता की राजनीति के मैंपरों-द्वारा मत्रविद्ध करके जहर की काट जहर में खोजने की नियति को सौंप दिये गये हैं। जो शुद्ध हिंदू या शुद्ध मुसलमानों में बदले जा रहे हैं। उन्हें ज़रूरी रूप काग्रेसी सल्तनतवाद के पाये मजबूत बनाने के इरादे में जगाया जा रहा है।

बेगमबाग के कर्फ्यू में घिरे होने के दौर में हिंदुओं की उस पूर्व-नियोजित मानसिकता का एक नगा साक्षात्कार हुआ, जिसे धर्मनिरपेक्षता के दिंडोरवियों ने एक जाल की तरह बुना है। हिंदू साप्रदायिकता का हौवा खड़ा करने से पहले, इस सुलगते सवाल से गुजरना जरूरी होगा कि खुद मुसलमानों की भूमिका इसमें क्या है, क्योंकि अगर मान लिया जाये कि भारत में मुसलमानों की नुमाइदगी शाही हमाम, शहाबुद्दीन और सुलेमान सठ-जैस मजहबी-सियासी रहनुमाओं के हाथों में है, तो यह भी बिल्कुल मान लिया जाना चाहिए कि हिंदू साप्रदायिकता की राष्ट्रव्यापी लहरे भी दरअसल, इन्हीं कौमी, मजहबी और सियासी कठमुल्लों की उपज हैं, जिन्होंने भारत के मुसलमानों को अपनी नियति को हिंदू समाज से जोड़कर चलने की नेक सलाह देने की जगह काग्रेसी सल्तनतवाद के साथ सियासी सौदेबाजी का रास्ता दिखाया है। जिन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से खतरा और काग्रेसी सल्तनत के हाथों हिफाजत हाने की मुहिम चला रखी है, जिन्होंने मुसलमानों को यह मजहबी-सियासी सबक पढ़ाया है कि एक कट्टर मजहबी सप्रदाय की वैसियत से की गयी सियासी गोलबदी ही मुसलमानों का हिंदू राष्ट्र के खतरों से सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

हम फिर कहेंगे कि हिंदू-मुसलमान का सवाल आज के भारत का सबसे पेचीदा और सुलगता सवाल है, क्योंकि हिंदू-सिख का सवाल भी काग्रेसी सल्तनत के साथ मजहबी सियासी गठजोड़ की ही उपज है। मुसलमान एक पाकिस्तान और निकालना चाहते हैं, यह घेतावनी हिंदू मानस में और हिंदू राष्ट्रवाद का खतरा बढ़ रहे होने की दहशत मुसलमानों के भीतर उत्पन्न करनेवाली शक्ति एक ही है- काग्रेसी हुकूमत। जबकि आज की तारीख तक में न मुसलमानों के सल्तनतवाद के पुनर्जागरण का खतरा आकार ले पाया है, न हिंदू राष्ट्र का नक्शा अमल में आने के मुकाबले पर है। पूरे देश पर कब्जा काग्रेसी सल्तनतवाद का है, जिसने धार्मिक कठमुल्लेपन और साप्रदायिक जहरबाद की आद्य में सत्ता की रोनी सेकने के नुस्खे को खुद की हुकूमत बरकरार रखने का सबसे आसान और कारगर नुस्खा बना लिया। बेगमबाग के हिंदुओं की मानभिकता में साप्रदायिकता का जहर घालन का

काम भी इसी नुस्खे का एक करिश्मा है। मुसलमान एक पाकिस्तान और निकालना चाहते हैं, इस सवाल से बिदकने, मुह फिराने या खौखियाने में कुछ नहीं रखा। सवाल खौखियाने नहीं बल्कि जवाब पाने से हल हुआ करत है। हमारे पास इस सवाल का जवाब क्या है?

बेगमबाग के हिंदुओं के पास अपने इस नतीजे पर पहुंचने की वजह मौजूद है। हिंदुओं में परिवार-नियाजन का चक्कर चला हुआ है और मुसलमान अपनी आबादी में जुटे हैं। हिंदू एक शादी की कानूनी बदिश में जकड़ दिये गये हैं, मुसलमान को चार बीवियों का मजहबी ताहफा मौजूद है। हिंदुओं में सरकारी कारिदे बिठा दिये गये हैं, मुसलमानों की मर्मजेदों के भीतर ज्ञाकर्ते भी भारत सरकार की रुह कापती हैं। हिंदू कभी धर्म की पताका हाथों में लिये दूसरों की धरती पर साम्राज्य कायम करने वाली निकला, मुसलमानों का पूरा इतिहास इस्लाम का परचम दूसरों की धरती पर फहरान के खूनी अभियान का रहा है। हमें हमारे मजहब की बिना पर अलग मुल्क चाहिए, इस माग के साथ हिंदुस्तान को आरी से चीरने की पेशकश और कारस्तानी मुसलमानों न की थी, हिन्दुओं ने नहीं। और जब मजहब के नाम पर मुल्क ले लिया गया, तो साफ है कि मजहब के नाम पर ही मुल्क छोड़ भी दिया गया। यानी जैसे मुसलमानों का मुल्क पाकिस्तान करार दिया गया, तब हिंदुओं का गष्ट भारतवर्ष खुद ही निर्भित हो गया। अब नैसर्गिक बटवार पर धर्मनिरपेक्षता की धादर ताननेवालों ने भल्पसख्यकों को वोट की राजनीति के मोहरों के ऊपर में घाहे जितनी खुशफहमी में रखा हो, आज की हकीकत है यह कि जब वोट की ही राजनीति खेली जानी है, तब बहुसख्यकों की शर्तों पर खेली जायेगी।

हम सब इस तथ्य से भलीभांति अवगत हैं कि १९८४ के लोकसभा चुनावों का बहुसख्यकों की वोट-शक्ति का करिश्मा मान लिया गया। बहुजन सभाज्ञ को हिंदुओं का बहुमत तोड़ने की धाल करार देने वालों की सख्ता कम नहीं। मुसलमान आबादी के अनुपात के लक्ष्य पर पहुंचते ही इधर पाकिस्तान और उधर बांग्लादेश की तरफ हाथ फैलाये खड़े हो जायेंगे- इस अदेशे में दुबले पड़ रहे लोगों की गिनती भी उगालियों के बूते की नहीं।

इसके अलावा यह धारणा भी दूब की सी जड़ें ढालती रही है कि मुसलमान कल्पनाम में हिंदुकनेवालों की कौम नहीं। जितन वक्त और मौके में हिंदू दस मुसलमानों, उतन में मुसल्लिन हजार हजारों को कल्पन कर दुके होंगे। बेगमबाग के हिंदुओं में कुछ अफसास यह भी था कि यह हिंदुओं का दब्बूपन है कि 'बेदारा बुड़ा' कह के छोड़ दिया। मुसलमान बुड़ा, बट्टे या औरत नहीं बल्कि सिर्फ हिंदू के सवाल पर जायेगा। हिंदू परपरागत काटरजीवी है और मुसलमान पेशेवर खूरेज आकाता। हिंदू आज घौतरफा खतरा में धिरा है। मुसलमानों के रास्ते अरब-ईरान-तूरान तक फैले हैं।

बेगमबाग के इन तथाकथित साप्रदायिक हिंदुओं की मानसिकता सिर्फ बेगमबाग की चीज नहीं। गष्ट और हिंदुओं की अस्मिता के मकट में धिरे होने की यह साप्रदायिक

मानसिकता, इधर के घद बरसों में, बहुत तेज रफ्तार से हो रहे साप्रदायिक धुवीकरण की उपज है और इसके तार पूरे देश में फैल चुके हैं। जितनी आसानी से आज भेरठ-दिल्ली-भडौद-भिवंडी-मुरादाबाद किसी दिन पूरे देश में साप्रदायिक दो भडकाये जा सकते हैं। सवाल सिफे इतना है कि सल्तनतवाद का काम फिलहाल कितने पिटारे छोलने से घल जायेगा। ऊपर जो बेगमबाग की हिन्दू मानसिकता का एक मानाधित्र हमने सामने रखा है, इसमें कहीं तिल-भर छूठ का समावेश नहीं।

इतिहास के पन्नों का सवाल हो या बिल्कुल आंखों की हद में के वर्तमान का, सारी बात तय होती है इससे कि उद्देश्य क्या है। हमने बेगमबाग के निमित्त से हिन्दुओं के उन अंदेशों और पतराजों को सामने रखने की कोशिश की, जिनके घलते हिन्दू-मुसलमान की एकात्मता या समरसता का ख्वाब सिवा एक भयावह दु स्वप्न के और कुछ नहीं। और अब यही मामले के उन नुक्तों को उपस्थित करना चाहेंगे, जिनके आधार पर हिन्दू-मुसलमान एक ही धरती की दो औलादों की तरह अपने संपूर्ण प्रेम, विश्वास और विविध रंगों के साथ बाकायदा रहते आये हैं, बाकायदे रह सकते हैं। उदाहरण हम फिर बेगमबाग के उन तथाकथित हिन्दुओं की बातों से ही देना चाहेंगे, जिनको जहां एक तरफ नवाब साहब की बेटियों के बाहजजत और एक मुसलमान बुझ्ठे के बेखरोद्य बद्य निकलने का भलाल और अफसोस है, वहीं यह तकलीफ भी कि कठमुल्ले मुसलमानों के बढ़ते साप्रदायिक हमलों ने आखिर इस मुहल्ले को भी अपनी घपेट में ले ही लिया, जहां नवाब साहब ने इस इत्मीनान से अपना डेरा जमाया था कि यह ६५ फीसदी हिन्दुओं की बस्ती है।

यानी सारी साप्रदायिक उग्रता के बीच और बावजूद कहीं यह तकलीफ भी जरूर है कि अपने पर किये गये विश्वास की रक्षा में झूक गये। इस रक्षा के सवाल को हम बाद में उठायेंगे, यहां बेगमबाग के साप्रदायिक हिन्दुओं से बहस के इस पहलू को ही रखें कि मुसलमानों के साथ रहने का जहां तक सवाल है, इसके मुमकिन होने का पहला आधार यह है कि मुसलमान अंग्रेज नहीं है। बहस में उतरते ही लोगों ने खुद कहना शुरू किया कि मुसलमान से बात-व्यवहार करते में किसी बेगाने या अपनी पहुंच से दूर के आदमी से बात कर रहे होने की अनुभूति नहीं होती। एक हिन्दू को अपना सुख-दुख मुसलमान और मुसलमान को हिन्दू से कहने में किसी बेसरोकार या बेगाने के सामने अपने को उघाड रहे होने का एहसास नहीं होता। खेती-बाड़ी, कताई-बुनाई, जुताई-चुनाई, कविता-सगीत की दुनिया हो या दुकानदारी-ठेकेदारी के सौदों की, मुसलमान से पानी में बताशे के घुलते होने का सब्द्य आज भी गुजरे वक्तों की बात नहीं। बटाईदारी से ले कर बेटियों की विदाई तक के मौकों में हिन्दू और मुसलमान के घेहरों की भाषा एक है।

यानी जहा-जहा, जब-जब और जिन-जिन मुकामों पर साप्रदायिकता के जहर से लग्नपाती जीभों का सामना नहीं है, न मुसलमानों में 'एक और पाकिस्तान' की तैयारी का जेहादी जुनून है, न हिन्दुओं में 'हिन्दू राष्ट्र' की हुकार और अब यही हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि अगर हिन्दू-मुसलमान-सिख-ईसाई, आपस में सब भाई-भाई की

तरह रह सकते हैं, रहना चाहिए और रहते भी हैं, जहा-जहा कि सियासी-मजहबी जहरबाद की गिरफ्त मजबूत नहीं, इस बात पर हम सद्यमुद्य ईमान रखना चाहते हों, तब सिर्फ सतह पर घोंघ उठाये रहने से कुछ नहीं होगा। तब हमें बिल्कुल दोटूक इन सवालों पर आना होगा कि हिंदू-मुसलमान साथ-साथ नहीं रह सके, इसके कारण क्या होगे-और वह आधार कौन-कौन से, जिनसे कि सब एक फूलदान में के अनेक पुष्पों की सी समरसता में रह सकेंगे।

बगमबाग के उन कुछ तथाकथित साप्रदायिक छिन्दुओं में, जिनसे कि साबका पड़ा फौजी पहरे के दौरान, इतिहास के पन्नों या संस्कृति के मूल उत्सों में जाने की पहल नहीं थी, लेकिन उनके सामान्य उद्गारों ने यह रास्ता जरूर खुला रखा कि हम संस्कृति और इतिहास के उन अभिलेखों की पड़ताल में इस उद्देश्य से भी जा सकें कि हिंदू-मुसलमान को आपस में जोड़ रखने और जोड़ सकने वाले तारों कौन-से हैं। इन तारों की पहचान ही रक्षा के बंधनों के सवाल को भी सामने ला सकेगी और इसी से पहुँच सकेंगे इस तक तक भी कि क्या है, जो दोनों में एक दोआबा रखता है। और वह क्या, जो दोनों को साप्रदायिक विद्रेष की कर्मनाशायके दो पाटों की विरुद्ध नियति में घकेलता है।

यहां प्रस्तु दिंदू-मुसलमान सवाल के उन तारों के मिलान तक सीमित है जिनका एक छोर अंग्रेजों की ही तरह मुसलमानों के भी विदेशी हमलावर होने का है। हिंदू मानस में यह बात भी जह जमाये बैठी है कि अंग्रेज भारतवर्ष को इंग्लिस्तान में नहीं बदल सके, लेकिन मुसलमानों ने भारत के दोनों छोरों को पाकिस्तान में बदल कर रख दिया। भारतवर्ष को भारतवर्ष के सिवा कुछ भी दूसरा बनाना इस राष्ट्र की सरहदों को ही नहीं, बल्कि अस्मिता को हड्डपना है। सिर्फ हिंदू है, जो खुद को भारतभूमि से नालबद्ध किये हैं, और राष्ट्र की सकल्पना से जुड़ा है। धारणा बिल्कुल गलत, लेकिन है।

देश का अस्तित्व सिर्फ उसके भूगोल-खगोल से नहीं, संस्कृति, जातीयता और परंपरा में है। भारत के पाकिस्तान और बांग्लादेश में बदल गये टुकड़े भारत राष्ट्र का अंग-भंग है। भारत की राष्ट्रीयता से कटते ही ये भारतीय संस्कृति और जातीयता से भी कट चुके हैं। ये दोनों राष्ट्र के भला प्रश्नरण से उत्पन्न नासूर हैं। ये अपनी हदों को फिर पैलायेंगे। बाकी भारत का मुसलमान यहां की जातीय संस्कृति और परपरा की जगह, इस्लाम को सबसे ऊपर करार दे कर, पूरे भारतवर्ष के इसलामी सामाज्य में बदलने के संभावित खतरे को बढ़ा रहा है। यहा तक कि उर्दू-पजाबी की जगह बगाली भाषा और संस्कृति के आधार पर बने बांग्लादेश की तुलना में, यहां के मुसलमानों का छुकाव पाकिस्तान की तरफ होना किस बात का इशारा करता है ? ये सवाल हैं और इनका जवाब बहुत जरूरी होगा।

हिंदू साप्रदायिकता का हौवा खड़ा करते में, भारत के विभाजन की त्रासदी को आख-ओइल करना गलत होगा। भारत के मुसलमानों के नैतिक आधार का सबसे बड़ा खोखल पाकिस्तान है। सब मानते हैं कि पाकिस्तान मुसलमानों के मजहबी जुनून और

इस्लामी हुक्मत की हवस की सृष्टि है। इसे जिन्ना और जवाहरलाल नेहरू के बीच की बदरबॉट या ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के द्वारा एक राष्ट्र के दो टुकड़े करने की खतरनाक साजिश के तौर पर देखनेवालों की मख्या कम है। ऐसे में हमें हिंदू साप्रदायिकता के मवाल को मुसलमानों के पलड़े पर पाकिस्तान को रख कर भी देखना ही होगा, क्योंकि पाकिस्तान को हाशिये पर रखकर मुसलमानों की स्थिति, नीयत या नियति पर किया जाने वाला हर सोच-विचार हिंदू मानसिकता को साप्रदायिक गोलबदी की दिशा में धकेलेगा।

पाकिस्तान को नेपथ्य में करके मुसलमानों की नीयत और नियति पर की जाने वाली प्रत्येक बहस हिंदू मानसिकता के लिये बेमानी और राष्ट्र व हिंदू समाज के हितों के विपरीत है। अगर यहां हम कहे कि बहस में हिंदू मानसिकता को एक पक्ष मानकर घलने को जरूरी क्या माना जाये, तो ध्यान रहे कि ऐसा प्रत्येक नकार हिंदू मानसिकता को साप्रदायिक या कहें कि सामुदायिक गोलबदी की तरफ आगे बढ़ाता है। साथ ही ध्यान रखना जरूरी है इस बात का भी कि हिंदू-मुसलमान का सवाल घद विचारधारावादियों से कही ज्यादा, उन हिंदू-मुसलिम धड़ों की गिरफ्त में है, जिनके राष्ट्र या मजहब के नाम पर गोलबद होने को हम तो साप्रदायिक मानसिकता करार देते हैं, लेकिन ये दोनों धड़े इसे खुद की सामुदायिक सुरक्षा और अस्मिता का सवाल। साप्रदायिक या सामुदायिक मानसिकता की लगामें इन्हीं दो धड़ों के हाथों में हैं। हम 'नदी किनारे रह खड़ा, धोबी कपड़ा धोय' के मुहावरे की हाथों में बद उन बौद्धिक के हाथों में नहीं, जो राष्ट्रीयता के सवाल को धर्म, मजहब या जातियों के बाड़े की हाथों से बाहर मनुष्य-मात्र की आर्थिक, सामूहिक स्वाधीनता तक ले जा कर देखना-दिखाना चाहते हों।

हालांकि अपने समय, समाज और देश के सवालों को इतिहास, विज्ञान और सम्कृति और विचार के आलोक में इनके सही और नैसर्गिक रूप में उजागर बनाता है वही तबका, जो जाति, धर्म और रक्त ही नहीं, बल्कि देश तक के तात्कालिक तथा इक्तरफा दबावों से इन्कार का सघर्ष और हर वस्तु को आदमी की स्वाधीनता और सवेदना की कम्पीटी पर कस कर देखे जाने की वकालत करता हो, लेकिन यह एक ब्रासद वास्तविकता है कि मानवविरोधी शक्तिया इन्हें हमेशा एक किनारे फेंक देती हैं, क्योंकि समाज की मुख्यधारा में राजसत्ता का भेड़ियाधसान कायम रखन के लिये जरूरी है कि उन तमाम लोगों को अकेला और अप्रासारिक कर दिया जाय, तो राजसत्ता के झूठ और समाज के सघ को पकड़ने और भाषा देने में समर्थ हों। भारत सरकार इस तथ्य का अपवाद नहीं। हिंदू-मुसलिम या अन्य तमाम साप्रदायिक या जाति-वर्णवादी गोलबदियों क सारे सूत्र अगर किसी एक की मुट्ठी में हैं, तो वह सर्वोच्च साप्रदायिक और जातिवर्णवादी सत्ता सगठन एक ही है- भारत सरकार।

हम नहीं कहेंगे कि भारत सरकार हिंदू-मुसलिम-मिख-हरिजन-सर्वण या अन्य प्रकार के साप्रदायिक दगों को पूरे देश में भड़काकर, राष्ट्र का टुकड़ों में बाटना चाहती है। जितनी चिंता हम राष्ट्र की है, इसमें कम फिक्र इन्ह इस देश की व्यवस्था का अपन आर्थिक-राजनीतिक साम्राज्यवाद का अखड़ देखन की नहीं। दरअस्त अपनी इसी फिक्र

मेरा तो भारत सरकार- बल्कि कहें कि आर्थिक प्रभुसत्ता वर्ग के राजनीतिक संगठन काग्येस ने खुद के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष साविधान तक में धार्मिक सप्रदायवाद को कानूनी हैसियत प्रदान की है। अपनी चुनावी रणनीति का एसा पूर्व-नियोजन किया, जिसमें लोगों के समाज की शक्ल में एकजुट होने की सारी समावनाएं हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो जाय। हिंदू-मुसलमान के साप्रदायिक शक्तियों के तौर पर गोलबद होते जाने के सारे गम्भीर काग्येसी सल्तनतवाद की दृष्टि है। हिंदू-मुसलमान या हिंदू-सिख-ईसाई-मर्यादा-हरिजन के बीच के साप्रदायिक ज़हरबाद के नेस्तनाबूद होने का सीधा मतलब होगा, काग्येसी सल्तनत का नेस्तनाबूद होना।

व्यवस्था इस खतरे को भलीभांति जानती है कि हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई वर्गरह चार भाष्यों के आपस में एक होने का मतलब होगा- एक राष्ट्रीय समाज का उदय, जो व्यवस्था की हर गतिविधि को राष्ट्रीय और सामाजिक हित की कसौटी पर कसकर देखेगा। *अर्टिल शर्जनिता*, सामाज्यवाद को अखड़ रखने का इस व्यवस्था को एक ही रास्ता मुझाई देता रहा है- भारतीय समाज को अलग-अलग साप्रदायिक समुदायों के रूप में बिखर रखना। इन्हें हमेशा इस मुकाब पर गोलबद रखना कि सत्ता सल्तनत के ठेकेदार इनका मनचाहा हस्तमाल कर सके। यह बज़ह है कि हिंदू-मुसलमान, हिंदू या मर्यादा-हरिजन अपनी साप्रदायिक टकराइटों तक के लिए स्वतंत्र नहीं।

इस क्षपक न माना जाये। हिंदू-मुसलमान के सवाल की पहचान के प्रसार में व्यवस्था की भूमिका का केंद्र में रखना जरूरी होगा। भारत के स्वाधीनता संग्राम को ठीक उस समय अधर में छोड़ देने की साजिश की पहचान जरूरी है, जबकि इसने एक अदम्य राष्ट्रीय ज्वार का आकाश लेना शुरू कर दिया था। जबकि वह दिन ज्यादा दूर नहीं रह गया था कि लार्ड माउट बेटन को हमसे प्रार्थना करनी पड़ती कि अग्रेजों को सकुशल वापस लौट जान दिया जाय। लेकिन तभी दर्शी प्रभुसत्तावाद के दलालों ने अपना स्मिर ऊपर उठाया और लार्ड माउट बेटन को, स्वाधीनता की अग्निदीक्षा में उत्तर पड़े राष्ट्र के भाग्यविधान की भूमिका में मध्य पर खड़ा कर दिया गया। जिसे अपनी सकुशल वापसी की भीख मारनी थी, वह भारतवर्ष को वसीयतनामे की कूटनीति की आरी से धीर कर ऐसे दो टुकड़ों पर विभाजित कर गया कि खुन का बहना कभी बढ़ नहीं हो सके। जैसे कोई शहशाह अपनी आधी जागीर हिंदू रानी और आधी जागीर मुसलमान बेगम जे पैदा हुए बेटा के नाम लिख जाय- ब्रिटिश सामाज्यवाद का आखिरी दलाल लार्ड माउट बेटन मजहब के नाम पर गढ़ गये द्विषष्टवाद के सिद्धात की पैदाइश पाकिस्तान को जिन्नाह और लहूलुहान 'शप भारत' को पड़ित जवाहरलाल नेहरू एण्ड कपनी के हवाले कर गया। काग्येसी सल्तनतवाद के इस राष्ट्रधाती अधोपतन को केंद्र में रखे बिना हिंदू-मुसलमान के सवाल का निबटारा असम्भव है, जिसने भारत की अर्थव्यवस्था को ज़कड़े बहुदेशीय विदेशी व्यापारिक प्रतिष्ठानों की नक्ल में भारत सरकार की शक्ल भी एक ऐसे बहुदेशीय राजनीतिक प्रतिष्ठान की निकाल दी है, जहां राष्ट्रीयता की घेतना और सकल्पना का उपयाग सिर्फ मुखौते को जरूरी रग-गेगन मात्र का रह गया है।

राष्ट्रीयता घेतना का ज्वार सिर्फ ब्रिटिश सामाज्यवाद को ही नहीं, बल्कि देशी

प्रभुसत्ता को भी उखाड़ फेंकेगा, इस दृश्यत में ही भारत के अभूतपूर्व स्वतंत्रता संघान को अधबीच में ही तोड़ दिया गया और १९४७ के बाद से आज तक की काग्येस हुकूमत का सारा इतिहास, राष्ट्रीयता की घेतना को कुचल कर, कागेसी सल्लनतवाद के उस भेड़िय को मोटा करने का इतिहास है, जिसने एक विशाल देश की संसद तक को सत्तापीठ की ढुम की शक्ति में बदल कर रख दिया है। हिंदू-मुसलमान के सवाल पर संसद की निरपेक्षता और दिशाहीनता इसी प्रभुसत्तावाद की देन है, जिसमें राष्ट्र की अखड़ता का सारा नाटक भारत को 'बहुराष्ट्रीय समूह' में बदल डालने के देशी-विदेशी घड़यत्रों पर परदा डाले रहने की कूटनीति में खेला जा रहा है। संसद और विधानसभाओं का साप्रदायिक ढांचा साप्रदायिक समीकरण पर आधारित 'डोमीनियन स्टेट' की कहानी खुद सुना रहा है कि नहीं ?

हिंदू-मुसलमान के सवाल पर बहस में इस तथ्य को सतत सामने रखते चलना होगा कि द्विराष्ट्रवाद की पेशकश में पाकिस्तान खुद दो टुकड़ों में बदल गया, तो यह भारत के लिए जश्न मनाने की बात नहीं थी, क्योंकि द्विराष्ट्रवाद का 'नुस्खा भारत' की हिंदू-मुसलिम समस्या का स्थायी हल निकालने की फ़िक्र में नहीं, बल्कि इस भूदेश का विटिश और अमेरिकी साम्राज्यवाद के स्वार्थों के हिसाब से टुकड़ों में करन की कूटनीति में इजाद विद्या गया। इस साम्राज्यवादी नुस्खे को अगर भारत के देशी प्रभुसत्तावाद के दलालों ने बाखुशी चृपचाप लाई और लेडी माउट बेटन के दरबार में कोर्निश बजाते हुए स्वीकार कर लिया, तो इस घतुरता में कि जिस नुस्खे से अग्रेज और अमेरिकी साम्राज्यवाद चला सकते हैं, हम क्यों नहीं ।

देशी प्रभुसत्ता वर्ग और कागेसी सल्लनतवाद के गठजोड़ के इस साम्राज्यवादी घरित्र को आख-ओझल करके, न हिंदू-मुसलमान सवाल का हल समव है, न हिंदू-सिख वगैरह सवालों का, क्योंकि साप्रदायिक सगठनों को मारी खुराक यही से मिलती आयी है। 'सभी' राजनीतिक पार्टियों को समानभाव से घदा दे कर, राजनीति में राष्ट्र-समाज और मूल्यों की घेतना से शून्य परजीवियों की गुडाशक्ति को खड़ा करने वाले थैलीशाहों ने ही इन साप्रदायिक सगठनों के अर्थत्र का भी मजबूत किया है। माप्रदायिकता और मजहबी जहरबाद की मानसिकता को पासने में थैलीशाहों के प्रधार-प्रसार माध्यमों की भूमिका सामान्य नहीं। विभिन्न धार्मिक-जातीय समुदायों के एक राष्ट्रीय-सामाजिक शक्ति के तौर पर उभरने का मतलब होगा धर्मनिरपेक्ष समाजवाद के पाखंड का वास्तव में घरितार्थ हो जाना— इस बात से बेखबर देशी प्रभुसत्ता वर्ग कर्तव्य नहीं था। इसी से उसने लोकतंत्र के लबादे के भीतर साम्राज्यवाद के ऑक्टोपस को प्रश्रय दिया। भाषा, शिक्षा, न्याय और कानून से ले कर राशन-पानी तक की दोहरी व्यवस्था कायम की। प्रभुसत्ता वर्ग के लिए सब-कुछ अलग, जाहिल गुलाम के लिए सब-कुछ एक समान ।

प्रभुसत्तावर्ग के लिए गोरासाहबी अग्रेजी, दलितों के लिए आपसी कलह और सिरफुटव्वल में घीथडा होती देशी भाषाएँ ! प्रभुसत्ता वर्ग के लिए दृन-मसूरी-शेरवुड-मार्का शाही शिक्षा-प्रतिष्ठान- करमफूटों के लिए कुशिक्षितों की फौज तैयार करन वाले देशी शिक्षा संस्थान ।

कभी आप कठमुत्त्वा-बर्बर साप्रदायिक सगठनों में धर्माधि दगाइयों की शक्ति गौर से देखें, तो वे आखें निकाल लिये गये प्रेतों की सी दहशत में डाल देंग। जब आदमी भीतर से अधा कर दिया जाये, तब उसकी बाहर की आखें गिर्दों से बदतर हो जाती हैं। काग्रेसी सल्तनतवाद और देशी प्रभुसत्तावाद के राष्ट्रद्रोही जुटे ने इस देश के लोगों से उनकी आखे खरीदने का ध्या चला रखा है। हिंदू-मुसलमान का सवाल इसी आख के होने, या न होने का सवाल है।

जिनमें आख है, वह आज भी साफ देख सकते हैं कि हिंदू-मुसलमान का सवाल दरअसल, कहा से शुरू होता और कहा तक जाता है। विदेशी हमलावर भारत के इतिहास के हजारों साल पुराने पृष्ठों तक में भौजूद हैं। विदेशी हमलावरों का एक लबा सिलसिला है, जो शक-कुषाण-हूणों से लेकर, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रौद्र तक गया है। कुछ भारत की भिट्टी में ही जज्ब हो गये, कुछ लूटपाट कर वापस चल दिये। सवाल विवेदना और बहस के लिये सिर्फ उनका है, जिन्होंने यहा अपनी हुकूमत कायम की और पहचान अलग बनाये रखी।

विदेशी आक्राताओं की एक भोटी पहचान है यह कि वह सबसे पहले कब्जे में लिये गये देश की स्सकृति को नष्ट करते हैं। विदेशी हमलावर कभी भी विजित देश की स्सकृति में सकारात्मक कुछ नहीं जोड़त, बल्कि अपनी जूठन और उतरन से मूल सम्कृति को विकृत बनाते हैं। आगरेजों की पूरी भूमिका यही रही है। जबसे वे यहा गद्दी पर बैठे और जब तक गद्दी में बरकरार रह- अग्रेज शासकों का सारा इतिहास भारत की स्सकृति को विस्पित और विकृत करने का रहा है। इतना ही नहीं, जाते-जाते भी वे सत्ता का अपने ऐसे अतराष्ट्रीय दलालों के हाथों में सौंप गये, जो आज भी भारतीय स्सकृति को विकृत और पाश्चात्य अपस्सकृति को देश के मानस और चेतनासंसार में आरोपित करने में प्राण-प्रण से जुटे हैं। अग्रेज गये, लेकिन रक्तबीज छोड़ते हुए। जो लोग अग्रेजों के ज्ञान-विज्ञान की दुहाई देते नहीं थकते, उन्हें हम बताना चाहेंगे कि जल्दी-से-जल्दी अधिक से अधिक लूट का माल सात समुद्र पार ले जाने और फौजी गिरफ्त को मजबूत बनाने के उद्देश्य से चलायी गयी रेलों और उडाय गये हवाई जहाजों से किसी राष्ट्र की वैज्ञानिक प्रगति नहीं हुआ करती। इस तरह के सारे औपनिवेशिक ज्ञान-विज्ञान, हमेशा राष्ट्र के अत सातों को बाधित करते हैं। अग्रेज हुक्मरानों ने भारत को सिर्फ लूट के एक औपनिवेशिक अड्डे की शक्ति में देखा। क्या यही बात मुसलमान शासकों के बारे में कही जा सकती है ?

इतिहास साफ-माफ बताता है कि ज्यां ही ऐसे मुसलमान शासकों का शासन यहा शुरू हुआ, जिन्हांन भारत को लूट का औपनिवेशिक अड्डा बनाने की जगह, हमेशा-हमेशा के लिये खुद के रहन की जगह के रूप में देखा- इस्लामी मास्त्राज्य ही नहीं इस्लामी हुकूमत का इरादा भी तर्क होता गया। ठीक यही से शुरू हुआ भारत के मूल निवाशियों से, सिर्फ शाही-शहशाही गद्दी को छाड़कर, बाकी मारे मामलों में आपस की साझीदारी का दौर, जिसकी परिणति गगा-जमुनी मम्यता और मम्कृति के रूप में हुई। 'एलो-इंडियन

कल्यर' की तर्ज पर डॉ-फारसी दोगली अपसरकृति की जगह इस गगा-जमुनी मेल-मिलाप के नतीजों को बहुत श्याम से 'रुद्र' की असर होगी उग, कि इस मरमुर ईमानदारी से हिंदू-मुसलमान के सवाल पर बहस घलाना धार्त तो । क्योंकि मुसल्ला नों की विदेशी हमलावरों के तौर पर धिनाख्त के लगअक्स, यह एक गजप का सबूत बनारे सामने भौजूद है, जिसकी मिसाल पूरे मरार के इतिहारा मे कही नहीं ।

आख चाहती है सस्कृति के निर्भित होने में भी यह देखे जाने के लिये कि मुसलमानों की हिन्दुओं से हाथबटाई का एक सदियों लिया पिंगसिला ८, जिसके एक नहीं, अनेक सबूत भारतीय सस्कृति के पटल पर न्याफ-साफ देखे जा सकते हैं। भाषा, बोलचाल, उठक-बैठक, खेती-बाड़ी, कताई-बुनाई, गोडाई-निराई, खुदाई-चिनाई, सुताई, नक्काशी, गाली-गलौज, प्यार-मुहब्बत, साज-सरीत, घितन-दर्शन, मजहब और धर्म शादी और साहित्य, सम्यता, सामाजिक रहन-सहन और सस्कृति के सम्मा सोपानों में कही कुछ ऐसा नहीं, जिसमे हिंदू-मुसलमान के मेलमिलाप की छाप नहीं। इस छाप को अलग करना मुश्किल ही नहीं, असभव है और यह असभव ही स्पष्टिकरता है कि कभी हिंदू-मुसलमान का बराबर के साझीदारों की तरह का साथ ९०८५ १४ और कि वह आज भी बिल्कुल सभव है, बशर्ते नीयत और नियति ताने-बाने के धारों की रहे ।

हिंदू ताने और मुसलिम बाने की बिनाई का इतिहास छोटा नहीं। अमीर खुसरा से लेकर नजीर बनारसी तक की लबी घदरिया है यह। इस बिनाई के टूटने का मतलब भारतीय सस्कृति की एक ऐसी अपूर्व धारा का टूट जाना होगा, जिसे गगा से जमुना के छूट जाने से कम बड़ा हादसा नहीं माना जाना चाहिये। भारत के नक्शे में से खून का रिसना जो आज भी जारी है, वह किस बात का सबूत है? बटवारे सगे भाड़ों में भी होते हैं, लेकिन जिस बटवारे में सिर्फ जमीन-जायदाद अलग होते हैं, वह अलग होते हैं- और जिनमे खून का भी बटवारा हो जाता है, वह अलग, क्योंकि खून का सबध हर हाल में बहुत दूर तक जाता है- चाहे अनुराग में, चाहे खटराग में। सस्कृति अनुराग का सबूत देती है और सियासत खटराग का। नहीं तो, जहा तक हिंदू-मुसलमान का सवाल है, अमीर खुसरो हिंदवी मे लिखकर भी मुसलमान ही रहे और फिराक उर्दू में लिख कर भी हिंदू। खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान के सामने मुसलमानी छोड़कर, हिंदू बनने की शर्त कभी नहीं आयी। इनकी हैसियत हमेशा घोटी के भारतीयों की रही ।

कुछ कारण है कि 'मानुष हों तो वही रसखान' के गायक मुसलमान को अपने मजहब को देश या सस्कृति से ऊपर समझने की न कोई जसरत पड़ी और न 'राम नाम की घदरिया' को जतन से ओढ़ने वाले कबीर को। गगा-जमुनी सस्कृति, हमेशा, देश और उसकी जातीय सरकृति के धर्म और मजहब से कही ऊपर होने का सबूत देती रही है।

इस गगा-जमुनी सस्कृति को आधात पहुँचाया, धार्मिक-मजहबी और सियासी कठभुल्लापन ने। और गजेब की मजहबी कट्टरता से लेकर, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों तथा काग्रेसी मल्तनतवादियों के सियासी काइयापन ने तोड़ा है, इसकी उस विश्वास परपरा को,

जा सारी दुनिया में अपनी मिसाल खुद रही है। कहीं, किसी दूसरे मूलक में बाहरी जातियों के आगमन और उनकी हुक्मत ने वहां की मूल सस्कृति में कभी कोई इजाफा नहीं किया-अपमिश्रण घांड जितना किया हो। कुछ कारण है कि मुसलमानों का भारतीय सस्कृति से जुड़ना वर्णसंकरता की विस्पता में न बदलकर, मूल को और अधिक सम्पन्न करता रहा। मुसलमानों का मुसलमान बने रहने के बावजूद भारतीय सस्कृति के विराट में घुल जाने का मिलसिला ही गगा-जमुनी सस्कृति की शुरुआत और समृद्धि का सिलसिला है।

इसमें क्या शक कि आगर पाकिस्तान नहीं भी बनता, तो आखिर रहते मुसलमान भारत की सरजमी पर ही। अपने हिस्से की जमीन पर तो आखिर-आखिर उनका कब्जा होता, लेकिन तब भारत के एक हिस्से का नाम पाकिस्तान नहीं होता। इसे समझाने की जरूरत नहीं होनी चाहिये कि जब एक देश के दो व्यक्तियों में से एक का नाम अमीर खां और दूसरे का नाम भीमसेन जोशी होता है, तब ठीक वही स्थिति करती नहीं होती, जब एक देश के दो टुकड़ों में एक का नाम भारतवर्ष और दूसरे का नाम पाकिस्तान रख दिया जाता है।

व्यों नहीं पाकिस्तान को यह पहसास हुआ कि अरे, पाकिस्तान के एक हिस्से का नाम आगर बांग्लादेश हाने जा रहा है, तो इससे पाकिस्तान को क्या फर्क पड़ना है- रहेंगे तो वहां अपन मजहबी दिग्दर मुसलमान ही? जब मजहब देश से बड़ी घीज हो, तब अस्थ मूल्कों के बीच युद्धों की जरूरत क्यों रह जाय?

गगा-जमुनी संस्कृति का जिक्र इसी गवाही में किया गया कि यह मुसलमान और मुसलमान नहीं, बन्निक सिख और सिख के बीच के फर्क की भी पहचान तय करती है। स्वर्णमंदिर की नींव में मुसलमान से पत्थर रखवाने और 'देहु शिवा वर मोहे' का शब्द गाने की जरूरत अनुभव करने वाले सिख कौन सिख रहे हैं- पंथ को देश से बड़ा करार देने वाले सिख कौन? ध्यान रहे कि कांग्रेसी सल्तनत हिन्दुओं का मानसिक दोहन इसी कोइया तर्क से कर चुकी है कि देखो, पंथ को देश से ऊपर ले जाकर खालिस्तान खड़ा करने के मुरीदों का सिर कैसे कुट्टल दिया गया। अखंड भारत के अभिरक्षकों के द्वारा सन् १९८४ का लाक्ष्मी द्युनाव इसी कांग्रेसी कूटनीति का सबूत है। हमें इस हादसे की सम्भावना से इन्कार से पहले, जरा इस मुद्दे पर जरूर सोच लेना चाहिये कि कहीं १९८३ १९८४ या इवकीसर्वी सदी के शुभारंभ के आम द्युनाव एक और पाकिस्तान के मुरीदों को अखंड भारत का सबक सिखा दिये गये होने के जयघोष के आधार पर न लड़े जायें।

अफसोस कि हमारे बड़े-बड़े विद्यारकों, बुद्धिजीवियों या तथाकथित राष्ट्रनेताओं को कभी यह जरूरत ही महसूस नहीं हुई कि देश के करोड़ों-करोड़ लोगों को इतना साफ-साफ समझा दिया जाये कि देश का मतलब क्या होता है और धर्म का मतलब क्या। देश हमें क्या-क्या देता है और धर्म हमें क्या। तभी हम लोगों की समझ में यह सच्चाई भी आती कि धर्म के बिना जिदा रहना और बिल्कुल एक सही-सच्चे, संवेदनशील और समझदार इनसान के तौर पर जिदा रहना- बिल्कुल-बिल्कुल सम्भव है। लेकिन देश के बिना इन्हान तो क्या, पशु पक्षी का जीवन भी नामुमकिन है। आदमी की अस्तित्व की

पहली शर्त देश है, मजहब या धर्म नहीं। आदमी का पहला आधार हवा-पानी, धूप-छाव और मिट्टी का ससार है, मजहब नहीं। मजहब, धर्म या जाति रोटी-सालन और हवा-पानी के बाद की वस्तु हैं।

मिट्टी के विरोध में खड़ा मजहब या धर्म, आदमी का सबसे बड़ा अधेरा है- मिट्टी में जज्ब मजहब आदमी की जिंदगी का सबसे उज्जर आलोक । आदमी मिट्टी की सृष्टि है, मजहब की नहीं। मजहब और धर्म तो आदमी के हाथों वजूद में आनेवाली नियामतों में से एक हैं। इनका देश या इनसान से बँड़ा कोई रुतबा नहीं। मजहब और धर्म तो सिर्फ तभी तक काम की चीजें हैं, जब तक ये इनसान के काम आ सकें, उसके शुभ में हाथ बटा सकें। इनसान के हित से ऊपर या बाहर जात ही मजहब और धर्म जहर की थैलिया हैं और इन थैलियों को गले में लटकाये धूमना ठीक नहीं।

हिंदू और मुसलमान का सवाल जहा तक एक देश के दो बांधिदों का सवाल है, वहा तक यह गगा-जमुनी सस्कृति का बेमिसाल सबूत है। हिंदू और मुसलमान का सवाल जैसे ही इस्लाम को देश से ऊपर ले जाने के मुकाम तक पहुंचे, तब यह भारत बनाम पाकिस्तान या इस्लामिस्तान का सवाल है और हिंदू-मुसलमान के बीच का यह छद्द न हिंदू के हक मे है, न मुसलमान के। इसका अजाम हमेशा सियासत, या सियासत के साथ तक जाता है।

जो मुसलमान मजहब को भारत से बड़ा, पहले और ऊपर करार देते हो, जो पाकिस्तान के हाथों को, खुद के दस्ताने चढ़ाकर, अपने बीच छिपाये रखने में उत्साद हो, जो खुद के इमाम-मुल्लाओं या सियासी रहनुमार्ओं के 'ऐ । हमारी कौम के लोगों, इस्लाम खतरे में हैं' की जहरीली पुकार सुनते ही खूनी खजर घमकात सड़कों पर उतर आत हा- एम्बे देशद्रोही मुसलमानों से सघर्ष एक अलग बात है और यह बिल्कुल अलग बात कि जो बहुसंख्यक हिन्दुओं के बीच मे खुद को सुरक्षित अनुभव करने के इतनीनान में अपना डेरा हिंदू-बहुल बसितों में बसाये हुए हैं, उनके विश्वास की हत्या कर दी जाय। विश्वास की हत्या से ज्यादा घृणित हत्या कुछ नहीं। विश्वास की हत्या हर हाल में भारतीय सस्कृति और परपरा की हत्या है। अल्पसंख्यकों के विश्वास की हत्या इस देश को निश्चित ही पाकिस्तान बना छोड़ेगी। तब यह भी पाकिस्तान की ही नस्ल के एक विरूप, सस्कृतिविहीन मुल्क की शक्ति में खड़ा होगा। इसकी नियति भी फौजी तानाशाहों के बूटों की धमक का छाती में झेलने के सिवा कुछ नहीं रह जायेगी। तब पाकिस्तान और हिंदुस्तान के घरित्र म कोई फर्क नहीं रह जायेगा।

काग्रेसी सल्तनतवाद बहुत तेजी से भारतीय सस्कृति और स्मृति की जड़ें रेत रहा है। धृतराष्ट्र हो चुकी है काग्रस, इसकी आखे ब्रिटिश सामाज्यवाद के म्यूजियम में कैद हैं। इसका कुछ भी भारतीय नहीं रह गया है, सिवा लबादे के इसकी भाषा और घरित्र दोनों सामाज्यवाद की जूठन के सिवा और कुछ नहीं रह गये हैं। यह सरथा पूरी तरह सड़ चुकी है। यह हिंदू-मुसलमान का सवाल को खुद की सत्ता के हक में भुनाने की आदी हो चुकी है।

और इसके 'मरतिहु बार कटक सहारा' के खतर से सावधान नहीं हुआ गया, तो न हिंदू-मुसलमान का सही-सलामत बद्य रहना सम्भव होगा, न इस देश का।

हिंदू साप्रदायिकता का एकत्रफा होवा बड़ा करने वालों को भूलना नहीं चाहिये कि आर एस एस, शिवसेना या त्रिशूलमना अल्पसम्बद्धकों की साप्रदायिकता की खुराक पर खड़ी हुई है। काग्रेसी सल्तनत से राजनीतिक सौदेबाजी की पहल अल्पसम्बद्धकों के मजहबी-सियासी रहनुमाओं ने की, बहुसम्बद्धक हिन्दुओं ने नहीं। जो आज बहुसम्बद्धकों की सत्ता से साठगांठ का रोना रो रहे हैं, उन्हें जरा इतिहास के उन पन्नों को भी पलट कर देखना चाहिये, जो अल्पसम्बद्धकों के राजनीतिक सौदों से पट पड़े हैं। क्यों यह सदिवश्वास कर लिया गया कि जो काग्रेसी सल्तनतवाद आज अल्पसम्बद्धकों के तुष्टीकरण की राजनीति खेल रहा है, कल जरूरत पड़ने पर वह बहुसम्बद्धकों के तुष्टीकरण का दाव नहीं आजमायेगा ? तब ता यह तय मान लिया गया कि हिन्दुओं में आपस में ही इतने वर्ण-जाति समूह हैं कि सत्ता के भभीकरण में निर्णायिक हैसियत कभी पा ही नहीं सकते, लेकिन १९८४ के आम चुनावों ने सबक सिखा दिया कि अगर वोट की ही राजनीति को केंद्र में कायम रहना है, तो अब अपनी शर्तों पर पलड़ा नीच ढुकानेवाली ताकत हिंदू बहुसम्बद्धक रहेगा, अल्पसम्बद्धक नहीं। यह बात हिंदू बहुसम्बद्धकों के हित में है, इस मुगालते में रहने का दण्ड आखिर-आखिर हिन्दुओं को ही सबसे ज्यादा भुगतना होगा, लेकिन आज की हकीकत यही है कि जब तक वोट की राजनीति में बहुसम्बद्धकों की निर्णायिक शक्ति का तावा पूरी तरह घिस नहीं जायेगा, तब तक अल्पसम्बद्धकों की हैसियत दोयम रहेगी।

जहा तक काग्रम स्थाया का सवाल है, अब हम कैसे यकीन दिला पायेंगे कि काग्रेसी सल्तनतवाद की सारी कड़ी आलोचना काग्रेस के हक में है, उसके खिलाफ नहीं। हिंदू-मुसलमान और सिख-इसाईयों के एक होने में एकाधिकारी सल्तावाद के पाये टूटने के खतरे जरूर हैं, लेकिन इसके सिवा लोकतंत्र के बने रहने का कोई रास्ता भी तो नहीं।

हिंदू-मुसलमान के मवाल में यही पैंच सबसे अहम है कि मुसलमान जब तक हिन्दुओं में खतरा और काग्रेसी सल्तनत से सुरक्षा महसूस करने के मुकाम पर रहेंगे, तब तक उन्हे मजहब को देश से बड़ा दिखाया जाना रहेगा, क्योंकि सत्ता से सौदेबाजी में मजहब का बड़ा होना हाथ बटायेगा, देश का बड़ा हानानहीं इसलिए हिंदू-मुसलमान का सवाल हो कि हिंदू-सिख का सवाल- सबसे पहला और जरूरी सवाल है, मजहब या धर्म को देश से ऊपर ले जाने, या धर्म, मजहब, वर्ण अथवा जाति आदि का देश के साथ जज्ब कर देने का सवाल।

हिंदू-मुसलमान का सवाल, इसीनिए, सबसे पहला जवाब यही माग रहा है कि कौन प्रथम है, मजहब या देश ? समाज, या सत्ता प्रतिष्ठान ? जवाब, जाहिर है, मुसलमान को पहले देना है, हिंदू को बाद में ! और इसे हिंदू साप्रदायिकता का सबूत न माना जाये। इस वास्तविकता का नकार ठीक नहीं कि हिंदू भारतीय समाज की मुख्यधारा रहा है। देश और संस्कृति की भी। यह एक सच्चाई है कि हिंदू की साप्रदायिकता का जुनून अभी भी

देश और सस्कृति के ऊपर नहा पहुंचा है। हिंदू को भारत की मुख्यधारा कहने से यह भावार्थ निकालना सिवा कुत्कृत के कुछ न होंगा कि यह अल्पमस्तक, समुदायों के अस्तित्व का सकृद पैदा करेगा। बड़ी मछली के छाटी का निगलन और अनधाराओं के मुख्यधारा में अतर्लयन में काई समानता नहीं। मुख्यधारा भावायक धाराओं के निजी प्रवाहक्षत्रों में हस्तक्षेप नहीं करती। 'गगा-जमुनी सम्पूर्णता' में जमुना उसलमान है। अपनी इस विद्यति, बल्कि कहे कि हैसियत से जिस मुसलमान का इनकार हो, उसे गगा-जमुनी सम्पूर्णता का दावा छोड़ देना, और इस कड़वी हकीकत को मान लना चाहिए कि यहीं पाकिस्तान नैया बना रहा है।

इतिहास गवाह है कि हिंदू और मुसलमानों के बीच की ' ' टकराहटों का गिलसिला जब तोड़ा इस सकल्पना प्रौज बाध न तोड़ा कि धर्म के पृथक होने से कुछ नहीं बिगड़ना, अगर देश और सस्कृति एक हों। देश और सस्कृति के प्रति इस नम्यता ने ही नाना धार्मिक-जातीय सप्रदायों का एक तृहस्तर भारतीय समाज का नवशा दिया। यहाँ के ' ' , ' ' , ' ' गतिक नवशे का तोड़ कर ही, देश को भी तोड़ा जा सकता है, इस सामाज्यवादी कृष्णनीति के तहत ही ब्रिटिश सामाज्यवाद के पिण्डुओं ने भारत की सस्कृति पर लगातार आधात किये। पश्चिमी सामाज्यवाद का यह दुष्यक्र आज भी ज्यों-का-त्यों कायम है। सस्कृति और देश के विरुद्ध मजहबी जहरवाद के नुस्खे न तो पाकिस्तान पैदा किया। हिन्दुओं से पूरी तरह तोड़ने के लिए मुसलमानों को देश और सस्कृति के एक होने के बाध से काटने को जरूरी था कि उनका यह काबा, कलीसा और मकान-मदीना के धार्मिक भिशनों के द्वारा मूल इस्लामी मुल्यों की तरफ माड़ दिया जाये। और मोड़ दिया गया।

अब हम हिंदू-मुसलमान के मवाल की उम सबसे नाशक नर्ग की भी हुनी चाहती, जिसे हमने माना के दूध के रिश्ते का तकाजा कहकर, कुछ दर का यो ही सन्नाट में छोड़ दिया था। हालांकि इशारा हमारा तभी भी साफ था। आखिर किस तिम्म सट्ट्यार्ड से इन्कार करेगा भारत का मुसलमान ? ठाठ के ठाठ का जो बलान, या हिंदू भमान में कोड की तरह व्याप्त धार्मिक-जातीय सर्कीणता के घनता, धर्मान्तरण हुआ, इससे ? शहशाह जहागीर की अमीर हुजूर जाधाबाई तो बहुत बाद की दीज है, किससे करेंगे आप इनकार, अमीर खुसरा के राजपूतानी के गर्भ और दूध में पले होन से ? कौन बोलता रहा है, अमीर खुसरा के लिख में 'छाप तिलक रब छीनी, र, मोमा नैना मिलाय के।' फारसी की दाँरदीवारी हलाग कर हिंदवी के अविष्कार का करिश्मा, क्या यां ही सेत मत में छड़ा कर दिया खुसरा ने ? 'यत्व खुसरा घर आपने, रेन मई येहि देश' के परम वैष्णवी और विषादी स्वर का मूलस्थान कहा है ?

कहने की अनुमति चाहत हम कि सुफियाना अदाज और वेदिक औपनिषदिक वित्त सबदन तथा स्मृतिबाध का सगम- यही पहला गगा-जमुना घमत्कार है ? यह मुसलमान के खून में रजपूतानी के दूध के घुलन की एप्पी अपूर्व-अनन्य कथा है जिस कुछ भी ठीक-ठाक वही समझ सकता है, जिसकी इन्द्रिया धर्म, मजहब या जाति की धर्मी में

मठन-पठन सुन्न न हो गयी हाँ। कैस देश, इतिहास, काल और सस्कृतियों के निशान आदमी में प्रतिविम्बित होते हैं और कब फूटता है, हाड़-माम की ठठरी में से, महाकाव्य 'गुमरा इमी रगा-जमुनी सगम की उत्पत्ति है, कि कहा तक जाता है माता के दूध का सिंहा ? खाम तौर पर जब मातृभूता की अवधारणा माता पृथिवी के महाबोध तक जाती हो। जबकि मिट्टी सारे गजहबों के लिये समान होने का दावा लिये मुस्कराती हो। रजपृतनी से लकर एक महादेश और उसके सारकृतिक गोमुखों तक का यह अनहद तार-खुमर के लिख में जिसकी अनुगृज नड़ी सुनायी पड़ती हो तथा है कि उसकी श्रुति सुन्न है और इस सुन्नपन का विस्तार ही पैदा करता है- पाकिस्तान !

दश और मस्कृति में बड़ा इस्लाम को घाषित करने वाले हिंदुस्तानी मुसलमान से उभर्का गिरधा पकड़ कर क्यों न पूछा जाये कि ईराक, तुर्की, सऊदी अरब यहा तक कि जु़बा-जुम्मा आठ राज के पाकिस्तान तक को इस्लाम मुल्क से बड़ी धीज नहीं, एक तुम्ही द्वया खुदाई कायनात के ऐसे अजूबे हो कि तुम्हारा इस्लाम बार्का सारे इस्लामी मुल्कों के इस्लाम से बड़ा है ? एक तुम्ही को हाता है इलहाम कि काबा-मदीना की यात्रा की कृष्ण भज्यावत नहीं, अगर कि मजहब को मुल्क मे और अगर तुम्हारा दावा कि हा, तुम्ह इस द्वान में मजहब मुल्क से बड़ा है, तो फिर क्यों खुद की गद हम मुल्क की अरजमी पर बिखरना चाहते हो ? क्यों खाब खड़ा कर रहे हो यहा एक और इस्लामिस्तान का ? तथा है कि अगर तुम्हें सद्यमुद्ध इस्लाम इस देश और यहा की सस्कृति में बड़ा है, तो तुम आज नहीं, तो कल, कल नहीं तो परसा- अगर परसो- नरसों नहीं भी, तो इस्लाम में सही- फिर ' ' ' ' ' दिल्ला और ज़रूर !

जो अपनी जड़ों से इनकार करता हो, वह किसी का वफादार नहीं हो सकता। न देश और सस्कृति, न इस्लाम का, क्योंकि ऐसा जड़कटा इनसान सियासी भजहबी शैतानों की प्रेतवाधा का शिकार होता है। फिर धान, वह हिंदू हो या मुसलमान, मिथ छो या ईसाई- पात्तमी हो या ईगनी- तुरानी ! जो अपने दत्तन के बाने वफादार नहीं, वह किसी के पानी वफादार नहीं। पाकिस्तान इसी धवफाई का नमूना है। यह भी नहीं भूल हिंदुस्तानी मुसलमान कि 'ऐ हमारी कौम के लोगों, इस्लाम खनरे में है !' के अजानियों न ही 'हिंदू और हिंदू, हमरो' 'रत के हिंदुओं, आखें खोलो' के उस अधराप्तवाद की जमीन तैया .. अब .. ता सस्कृति के एक काल अध्याय की शक्ति लेता जा रहा है।

आप हमारे लख जाख का ? ध्यान रहे कि उद्देश्य का अवाल, 'ये फले ही उज्ज गृह' और हम भावधानी में ही कि इस सकट में आखिर नहीं दाना गड़ा है। आप उद्देश्य हमारे कह को हिंदू साप्रदायिकता के एक कटूतर त्रिवित्त का छग्ना भावित करते हो, तो इसकी भी गुजाड़श कागी, लर्किन यह गुजाड़श भी , इ छ ना कृष्ण का गव इस्लाम या हिंदुस्तानी मुसलमान की तीव्रीन नहीं, शान में कहा गया है।

जो लोग दशमा लगा कर खोजना चाहे कि हिन्दुरत्नानी मुसलमाना का हिंदुओं से दबकर रहने की हिदायत दी गयी है- और इसी में गढ़ा गया है, हिन्दुओं के भारत की मुख्यधारा होने का शास्त्र- उनसे हम सिर्फ इतनी ही गुजारिश करना चाहेंगे कि इनसान को प्रेम में दबाकर रखने की बात कोई कुफ्र नहीं। मुसलमान अगर किन्हीं हिंदू-सिख-ईसाई का ठेंगे पर रख कर घलना चाहें, तो इसमें कुछ ज्यादा खतरा नहीं, क्योंकि जो भी प्रेम और ईमान के रास्ते पर न हो, उसे ठेंगे पर ही रखा जाना चाहिए, लेकिन देश और संस्कृति को ठेंगे पर रखने के नतीजे भारी पड़ेगे। मजहब को देश से बड़ा करार देना, देशद्रोह के सिवा कुछ नहीं समझा जायगा, न समझा जाना चाहिये, क्योंकि यही नासमझी हिंदू राष्ट्र की नीव भरेगी। जब सल्तनत देखगी कि अब सिवा इसके अखड़ सत्ता का कोई और रास्ता नहीं, तब देश और जनता के हित में अखड़ हिंदू राष्ट्र की अपरिहार्यता का तर्क गढ़ते उसकी जबान लड़खड़ायगी नहीं।

क्या करना है मुसलमान को हिंदू और क्या करना है हिंदू को मुसलमान का- दो फिकरों में यही है हिंदू और मुसलमान का सवाल और यह जवाब न किसी को पहले देना है, न किसी को बाद में, क्योंकि इनसान यदि सवाल-जवाब में साथ-साथ नहीं, तब सचमुच का साथ कहाँ होगा ?

['वौथी दुनिया' जुलाई १९८८]

भारतीयता की समझ का इमामबाड़ा

पुरुषोत्तम अग्रवाल का लेख 'भारतीयता के खिलाफ खड़ा है हिन्दूवाद' (घौथी दुनिया २३ अगस्त १९८८) बौद्धिक उतावनी का एक नमूना है, वह भारतीयता के खतरे और धर्म के अपरिहार्य होने की बात तो करते हैं, लेकिन अल्पसंख्यकों की पीठ थपथपाने की स्वतं स्फूर्त सदाशयता में इस सच्चाई को ताक पर रख देते हैं कि वूकि भारतीयता सिर्फ हिन्दुओं की बपौती नहीं, इसलिए उसकी जिम्मेदारी भी सिर्फ हिन्दुओं के मत्थे नहीं भढ़ी जा सकती। पुरुषोत्तम इस बहस में उत्तरना ही नहीं चाहते कि भारतीयता आखिर है क्या, और उसके खिलाफ क्या सिर्फ हिन्दूवाद ही खड़ा है ?

वह मन ही मन डरते तो है कि देश टूट भी सकता है, लेकिन इस सवाल में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं कि देश के टुकड़ों में बटने का खतरा बहुसंख्यकों की साप्रदायिकता ने उत्पन्न किया है या अल्पसंख्यकों की ? या कि यह सारा खेल उस औपनिवेशिक सत्तातंत्र का है, जिसने राष्ट्र के नागरिकों, बल्कि सविधान तक को अल्पसंख्यकों, बहुसंख्यकों या अनुसूचितों के खानों में बाट रखा है ? उनका सारा जोर अल्पसंख्यकों की साप्रदायिकता का तार्किक आधार खड़ा करने में है ।

पुरुषोत्तम का कहना है- 'सवाल उठता है कि ऐसी वफादारी का मतलब क्या अपनी धार्मिक आस्था, पारपरिक सस्कृति और परिवेश से नाता तोड़ लेना है ? क्या भारतीय होने की शर्त यह है कि असलम इस्लाम से हाथ झाड़ ले और विक्टर ईसा से पिंड छुड़ा ले ? क्या भारतीयता की यही माग है कि मैं अपने प्रातीय गौरव, धार्मिक आस्था, रीति रिवाज, परपरा से जबरन जुदा कर दिया जाऊ ? क्या भारतीयता ऐसी घट्टान है, जो अपने नीचे की वनस्पति को कुचल कर ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकेगी ?'

'हिन्दू-मुसलमान का सवाल' में कहा किन शब्दों में ऐसी बातें कही गयी हैं ? साफ है कि यह सब मतव्यसिद्धि में गढ़ा गया है। खुद ही गद फैला कर, खुद ही दूसरों का ध्यान आकर्षित करने की यह स्वतं स्फूर्त दिंतनप्रणाली ठीक नहीं। विद्यार की पहली शर्त सच्चाई है, सच्चाई से हाथ झाड़ लना या तथ्यों से पिंड छुड़ा लेना नहीं। पुरुषोत्तम अग्रवाल यह भ्रम निर्मित करने पर तुले हैं कि 'हिन्दू-मुसलमान' का सवाल' में

अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी धार्मिक आस्था, सर्वनृति, पहचान परम्परा और रीति-रिवाजों और प्रातीय गौरव को ताक पर रख कर ही भारत में रह सकन की शुनौती दी गयी है, जबके 'हिंदू-मुसलमान का सवाल', लेख में ऐसा कही नहीं, और कहाई नहीं कहा गया है।

'हिंदू-मुसलमान का सवाल' में बहुत गया था कि अल्पसंख्यक वर्ग में मजहबी जुनून का फैलाव ही बहुसंख्यकों के धर्मोन्माद को हवा देता है, इसलिए देश और भारतीय सम्कृति के हक में होगा कि मुल्क से पहले या ऊपर मजहब के सिरसिने को तोड़ा जाये, क्योंकि इस तर्कप्रणाली से पहले पाकिस्तान कायम हो चुका है और अब 'खालिस्तान' का झड़ा हवा में है। कठिनितन की एक बानगी देखिए। उनका कहना है- 'अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता अपन परम पर अलग देश की मांग करन वाली है और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता घूंकि अलग देश की मांग ताकिंदू रूप से कर ही नहीं सकती, तो वह सस्कृति के राक्षसीकरण और सल्ला के फासिस्टीकरण की रणनीति जमाने लगती है। इसका मूल कारण यह है कि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता बड़ी आसानी से उग राष्ट्रवाद का सम्मान ले सकती है, अन्य सांप्रदायिकताओं को यह सुविधा प्राप्त नहीं है।'

व्यों, पाकिस्तान के मुसलमानों का क्या 'राष्ट्रवाद' की सुविधा अभी तर प्राप्त नहीं हुई ? अभी भी उनका राष्ट्र भारत ही है ? 'खालिस्तान' बन गया तो 'खालिस्तान-वादी' सिखों का 'उग राष्ट्रवाद' की सुविधा आनी चाहिए ? अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता पृथक राष्ट्र की मांग करे तो वह नार्किक रूप से की गयी मांग होगी और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता घूंकि बहुसंख्यकों की वस्तु है, इसलिए उसे ऐसी ' ~ ' प्राप्त नहीं होगी ?

अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता को तो अलग देश और 'राष्ट्रवाद' की तारिक सुविधा आप प्रदान किये दे रहे हैं, बहुसंख्यक सांप्रदायिकता इस ज्या कहीं से प्राप्त नहीं कर सकती ? आप कह बतायी भी दि, जो भूमिग्र अल्पसंख्यकों को सहज सूलभ होगी, उसे प्राप्त करने में बहुसंख्यक सांप्रदायिकता क्या असफल रहेगी ? सिर्फ इसलिए कि घूंकि जन्म देश और पृथक राष्ट्रवाद का तारिक प्राधार आपकी मुट्ठी में बद है ?

पुरुषोत्तम भाई यह भी कहाई नहीं बताते कि 'अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता' के धरम पर पहुंचने वे तर्क से आखिर वा कहना क्या चाहते हैं ? उन्होंना इशारा ना उन्होंने अपने रूप से किया है कि जब अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता घरम पर पहुंच तो वह नहीं बताता कि अलग मुल्क की उनकी मांग स्वाभाविक मान ली जानी चाहिए, नहीं वह नहीं बताता कि अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता को घरम पर पहुंचना क्षम चाहिए ?

जब बहुसंख्यक समुदाय उनकी धार्मिक आस्था, आरपता, पापुण और गत्तुत का कुपलने पर उत्तर आय ? या कि जो भी अल्पसंख्यकों का लग कि देश का दुकड़ों में थाट कर, अपना हिस्सा अलग कर लेन का पक ही रखता है- सांप्रदायिकता को घरम पर उठा ले जाना ? पाकिस्तान किस बात का अनुत्त है ? बहुसंख्यक समुदाय के अन्य धार्मिक

आस्था, अस्मिता और रीति-रिवाज को कुचले जा रहे होने की प्रतिक्रिया का- या कि देश को दो टुकड़ों में बॉटने की साजिश के तहत धरम पर पहुँचायी गयी अल्पसंख्यक साप्रदायिकता का ? अगर पाकिस्तान की निर्भिति का तार्किक आधार मुसलमानों की साप्रदायिकता का धरम पर पहुँच गया होना मान लिया गया- तब 'खालिस्तान' का तार्किक आधार क्या सिर्फ इसलिए रद्द मान लिया जाये कि चूंकि बीच में दो अद्द लार्ड और लेडी माउटबेटन नहीं ?

'खालिस्तान' की मांग बहुसंख्यक हिंदू समुदाय के द्वारा अल्पसंख्यक सिखों के दमन और उत्पीड़न की प्रतिक्रिया में सामने उपनियत हुई, या कि 'खालिस्तान' के स्प में देश का का एक टुकड़ा और अलग कर लेने की साजिश के तहत ? क्या भाई पुरुषोत्तम जी इस तथ्य से भी इनकार की करना चाहेंगे कि 'खालिस्तान' का सपना पाकिस्तान की हकीकत की ही प्रतिच्छाया है ? कुछ और बहस में जाने से पहले यह कि 'हिन्दू-मुसलमान का स्वाल' लेख में स्थानाभाव में छपने से रह गये एक अश का उद्घात करने की इजाजत चाहूँ । वह अश इस प्रकार है-

'जो भाग्न की मिट्टी में सना, जिसके हिंदू-मुसलमान-सिख ईस्लाई-ज-कुम्हार की हैसिधत के मारे झगड़े इस मिट्टी के वृत्त के भीतर के हैं, जिसकी सारी लडाई नारन कंगे सरहद में बने रहने के जदोजहद की है- जो इस देश की सम्कृति में से फूछ तोड़ता नहीं, बल्कि जितना बन पड़े, जोड़ता है और कुछ न सही एक सहज राग और विश्वास नी सही- ऐसे तमाम लोगों के लिए भारत अपना देश रहा है। सूफी-सतों की वाणी की तरह, गगा-जमुनी सम्प्रकृति इसी भारतीयता की गवाही है। यही तानसेन, बड़े गुलाम अली, फैयाज खां या अमीर खा और भीमसेन जोशी, ओंकार नाथ ठाकुर और छुमार गधर्व के अलापों को जुड़वा भाइयों की सी आवाज और तान का रूप प्रदान करती है।

अब आना चाहेंगे, हम भाई पुरुषोत्तम की 'हिंदू सरकार' वाली बात पर । पर भ दोटूक जवाब के साथ कि काग्रेसी हुकूमत हिंदू सरकार नहीं है। भाई पुरुषोत्तम को हम सवाल में जरूर जाना चाहिए था कि आखिर क्या कारण है कि काग्रेसी हुकूमत को धर्मनिरपेक्ष सरकार मानने-मनवाने में सत्तातत्र में शामिल अल्पसंख्यक वर्गों के नेता ही सबसे आगे हैं ?

ऑपरेशन ब्लूस्टार और दिल्ली दगों में अगर काग्रेसी हुकूमत की 'हिंदू बैकलेश' को भुनाने की कूटनीति काम कर रही थी, तो इस पर पहला एतराज सत्तातत्र में शामिल सिख नेताओं को होना चाहिए था, क्योंकि वास्तविकता को वो सबसे ज्यादा जानते थे और जानते हैं- लेकिन तब राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिह में ले कर सरदार बूटा सिंह तक ने ऑपरेशन ब्लूस्टार की अपरिहार्यता और नवबर दगों में सत्ताकेद्र की बेमिसाल धर्मनिरपेक्षता के प्रमाण पत्र बाटने में हिन्दू नेताओं से कम स्वत स्फूर्त राष्ट्रीयता का प्रदर्शन नहीं किया। भेरठ दगों में अगर पी० ए० सी० की हिंदू साप्रदायिकता का विस्फोट दिखाई पड़ा है, तो इस पर भी सबसे पहला और सबसे गहरा एतराज सत्ताकेद्र के मुसलमान

नुमाइदों को होना चाहिए था, क्योंकि मुसलमानों के प्रति सत्तातत्र के रुख की जितनी सही पहचान उन्हें हो सकती है, दूसरों को नहीं, लेकिन मोहसिना किंवर्द्ध से लेकर तारिक अनवर तक, सरकार की धर्मनिरपेक्षता और अल्पसंख्यकों से प्रतिबद्धता का राग अलापने में सबसे आगे सत्तातत्र के मुसलिम नेता ही हैं।

अब हम इतना साफ कहना चाहेंगे कि काग्रेसी हुकूमत हिंदू सरकार नहीं, बल्कि शुद्ध साप्रदायिक सत्तातत्र है और साप्रदायिक राज्यतत्र की यह नियति है कि आखिर-आखिर फासीवाद में बदल कर रहे। जिसे पुरुषोत्तम भाई हिंदू फासीवाद और राक्षसी सस्कृति का उदय करार दे रहे हैं, वह हिंदू समाज नहीं, काग्रेसी हुकूमत की देन है। सत्ता पर वशानुग्रह कब्जा बनाये रखने की प्रक्रिया और इसे खुद के आर्थिक सामाज्य की सुरक्षा के लिए कारगर मानने की पूजीवादी कूटनीति ने आज ससद को उस खतरनाक मुकाम पर पहुंचा दिया है, जहां वह साप्रदायिक और औपनिवेशिक ताकतों से गठजोड़ को बाध्य सत्ताकेंद्र के हाथों की कठपुतली बन कर रह गयी है।

सत्ता के व्यक्ति में केंद्रीकरण की परिणति अतत एकाधिकारवाद में होती है, ससदीय लोकतत्र में नहीं। सरकार की जगह फौज या पुलिस की हिंदू साम्रकायिकता और आम लोगों की भीड़ की स्वत स्फूर्त हिंसा का हौवा खड़ा करने में ऐसे ही बुद्धिजीवी सबसे आगे हैं जो इस सघ को छुठला देना चाहते हैं कि विभाजन के साथ ही यदि मुसलिम राष्ट्र पाकिस्तान की बगल में हिन्दू राष्ट्र खड़ा नहीं हो गया, तो इसलिए कि हिंदुओं में सिर्फ गुरु गोलवलकर व वीर सावरकर ही नहीं, इस बात की तर्मीज रखनवाले आम लोग भी थे और हैं जरूर, कि- भारत को 'हिन्दूस्थान' में बदलना ही भारत की परपरा, सस्कृति और स्वेदना की हत्या करना होगा।

भाई पुरुषोत्तम बतायेंगे कि यह आम लोगों की भीड़ की स्वत स्फूर्त हिंसा क्या होती है ? क्या देश में गृहयुद्ध शुरू और कानून का राज खत्म हो चुका है ? बर्बर दगाड़ियों की स्वत स्फूर्त हिंसा अपना राक्षसी नगनाय काग्रेसी हुकूमत के दायरे से कहीं बाहर की दुनिया में दिखाती रही है या कि तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार की आखों के सामने ही नहीं, बल्कि उसके पुलिसिया पहरे में ?

फौज या पुलिस बल राज्य सरकार के आदेश और उसकी मंशा के विस्त्र कोई काम नहीं कर सकते। आगर करें तो इसे राज्य से विद्रोह करार दे कर कुचल दिया जाता है। पी० ए० सी० और सिख फौजियों के राज्य सरकार की मंशा के विस्त्र आचरण की कहानी क्या बताती है हमें ? भाई पुरुषोत्तम ने उठाया कभी यह सवाल कि जो सलूक पी० ए० सी० और फौज के सिख विद्रोही जवानों के साथ किया गया, वही नवबर ८४ और मई १९८५ के दगड़ियों और इन्हे शह देने वाले पुलिसवालों के साथ क्यों नहीं किया गया ?

हमने यह सवाल एक नहीं अनेक बार उठाया है और कहना चाहेंगे कि खुद सरकार के भी हित में उठाया है, क्योंकि भीड़ की हिंसा को राज्य का सरक्षण, कानून और न्याय की खुद इसके अभिरक्षकों के द्वारा खुली हत्या है। जो व्यवस्था एक तरफ कानून के

शासन का दावा और दूसरी तरफ दगाइयों को सरक्षण प्रदान करे, उसके फासीवादी होने में सदेह नहीं होना चाहिये।

सच्चाई यह है कि सत्तातंत्र के दशमुखी होने के कारण सारे चरम साप्रदायिक तत्वों का जमावडा केंद्र में हो गया है। भारत के हिंदू मुसलमान, सिख या ईसाई समाज की मार्ग या जरूरत साप्रदायिकता नहीं। साप्रदायिकता सत्तातंत्र और उसके उपजीवी साप्रदायिक तत्वों की बदरबॉट की देन है। हिसा और बर्बरता की आसुरी वृत्तियों का यह राष्ट्रव्यापी प्रसार इन्हीं तत्वों की देन है और इस राक्षसी सत्तातंत्र के विरुद्ध हिंदुओं को ही नहीं, सारे भारतीयों को एकजुट हो कर सघर्ष करना है, क्योंकि राक्षसी तत्वों का समावेश प्रत्येक समुदाय में है, सिर्फ हिंदुओं में नहीं। अल्पसंख्यक साप्रदायिकता की पीठ थपथपाना बहुसंख्यकों को भड़काना है।

भारतीयता के खिलाफ सिर्फ हिंदूवाद ही नहीं खड़ा है। इस्लामवाद, खालिस्तानवाद और पूजीवाद वगैरा नानावाद भारतीयता के उतने ही बड़े दुश्मन हैं। साप्रदायिकता का जहर घोलने का काम औपनिवेशिक और पूजीवादी ताक्तों की कठपुतली काग्रेसी हुकूमत का है। वही सारे समुदायों में साप्रदायिक तत्वों को बढ़ावा देती चली आ रही है। प्रत्येक समय में वही तत्व आसानी और तेजी से पनपते हैं, जिन्हे राज्य का सरक्षण प्राप्त हो। आज भ्रष्टाचार, हिंसा और अपस्सकृति के परनाले घारों और फूटे पड़ रहे हैं, तो इसीलिए कि राज्य व्यवस्था ऐसे भ्रष्ट, विकृत और बर्बर लोगों के हाथों में है, जो राष्ट्र-समाज के नैतिक मूल्यों व सवालों से पूरी तरह उदासीन हैं।

जब भारतीय स्सकृति और गांधी के मूल्यों की रक्षा की जिम्मेदारी सिर्फ हिंदुओं पर आयद होती हो, तब भारत भी सिवा हिंदू राष्ट्र के और कुछ क्यों कर होगा? देश में साझा सबका, लेकिन स्सकृति और नैतिकता का हडा माथे पर लिये घूमने की जिम्मेदारी सिर्फ हिंदू समुदाय पर? साझा स्सकृति के सारे दायित्व भी साझे के होते हैं। भारतीयता सिर्फ हिंदुओं की धीज नहीं, इसे सारे समुदायों के हाथों का स्पर्श चाहिए। भारतीयता विभिन्न धर्म और रीति-रिवाजों के एक ढोर में गुथे होने का नाम है और इस ढोर को अदूर रखने की जिम्मेदारी भी सब पर समान है।

रह गया गांधी का सवाल, तो सवालों से ऊपर कोई नहीं। गांधी की सबसे बड़ी पराजय क्या है? किस हादसे ने इस महान युगद्रष्टा को इस तरह तोड़ कर रख दिया कि उसने देश की आजादी के औपनिवेशिक जश्न में शामिल होने से ही नहीं, बल्कि इस तथाकथित महान स्वतंत्रता के पर्व पर दो शब्द बोलने से भी साफ दकार कर दिया। भारत की स्वाधीनता लिए सघर्ष करने को सवा सौ वर्ष जीने की वाक्षा घोषित करने वाला महामानव आखिर आजादी के दिन ही यह प्रार्थना करता क्यों पाया गया कि- हे प्रभु, मुझे मृत्यु दो!

भाई पुरुषोत्तम भी जानते हैं कि जब गांधी ने कहा कि देश का विभाजन हमारी लाशों पर होगा, तभी पडित नेहरू एण्ड कपनी ने भी डका बजाया कि हा, देश का विभाजन हमारी

लाशों पर होगा और वह सच है कि देश का बटवाणि लाशों पर ही हुआ और वह भी दस-बीस-पद्मास या ठजार-दस्म ठजार नहीं, लगभग घार लाल्हे लाशों के ऊपर। लेकिन इन घार लाल्हे लाशों में किसी काग्रेसी नेता की काई लाश नहीं थी। यहां तक कि खुद महात्मा गांधी की भी नहीं और इस बात की तो अब यिर्फ कल्पना नी की जा सकती है कि अगर गांधी की हत्या बिडला की आरामगाह में न हो कर, भारत-पाकिस्तान की सीमा रेखा पर हुई होती, तो इसका पूरे देश के सर्वर्भ में क्या पर्याम निकलता। लेकिन गांधी की सबसे बड़ी पराजय यही थी कि सकल्प टूट गया। जिस गांधी की रीढ़ में ब्रिटिश हुकूमत के कैसे भी दबाव एक खरोदय तक नहीं लगा पाये, उस बिडला और पडित नेहरू एड कपनी ने रबर का नलका मार्बित कर दिखा दिया।

गांधी की वास्तविक मृत्यु तभी हो गई, जब विभाजन के लिए गांधी ने भी अपना मरतक हिला दिया और लार्ड व लेडी माउटबेटन को साफ हरी झड़ी मिल गयी कि वो देश को जरामध्यों के हवाले कर दे। भाई पुरुषोत्तम जिस राक्षसी सम्झौते के उदय की बात कर रहे हैं, उसके बीज हिंदू साप्रदायिकता में नहीं, लौगी और काग्रेसी हुकूमत की उस बदरबाट में हैं, जहां से लाखों निदापों की लाशों पर सल्ला का शाही जश्न मनाने की बर्बरता का प्रारम्भ हुआ। हमने कहा कि पाकिस्तान हिंदू साप्रदायिकता नहीं, मुसलिम लौगी साप्रदायिकता की सृष्टि है और भाई पुरुषोत्तम इतना बिदक गये कि उनकी आर्गनिक बुद्धिजीवित हो चरमरा उठी ? पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि पाकिस्तान आगर मुस्लिम लौगी साप्रदायिकता नहीं, तो और किस की निर्मिति है ? हमने कहा कि पाकिस्तान मुरानामानों की कमजोर नज़र है, हिंदुओं की नहीं- पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि इसमें झूठ कहाँ है ?

हमने कहा कि मजहब के नाम पर पाकिस्तान के बन चुकने के बाद भी 'मुसलमान' को इसलाम पहले है, मुल्क बाद में, का जहरीला नारा उछालने वाले लोग गगा-जमुनी सम्यता और सम्झौते के हक में नहीं- भाई पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि नहीं, इस्लाम मुल्क से सवूमय पहले और बड़ी चीज है। हमारा निष्कर्ष था कि अल्पसम्भवक साप्रदायिकता का सत्तातत्र से गठजोड़ बहुसम्भवक साप्रदायिकता की राजनीतिक सौदेबाजी को बढ़ावा देना गया है- भाई पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि अल्पसम्भवकों की साप्रदायिकता को सत्तातत्र से सौदेबाजी की छूट का तार्किक आधार क्या होगा ?

भारतीयता कोरे तार्किक आधारों का नाम नहीं। तार्किक आधार तो फासीवाद सबसे पहले ढूढ़ लेता है। भारतीयता किसी भी वस्तु या कर्म के नैतिक और सवेदनात्मक आधार की समझ का नाम है। पृथ्वी प्रत्येक को समान है और जो भी जहाँ की मिट्टी से जुड़ा है, उसका हक अपने रहने की जगह पर सबसे पहला है, तथा धर्म, विद्यार या राज्य, किसी को भी मनुष्य की इस नैसर्गिक स्वतत्रता और जमीन के मौरसी हक के विपरीत जाने की कोई छूट नहीं होनी चाहिए, इस समझ में ही भारतीयता की समझ के आधारभूत ततु अतर्निहित है, प्राण काप उठे होने का नाटक खड़ा करने में नहीं, क्योंकि जिस यिर्फ अपने प्राणों के काप रहे होने का मुगालता हो वह दूसरों के प्राणों के कपन को सुनने से इकार

करता है। भाई पुरुषोत्तम को यही मुगालता खा रहा है।

ड्रेकुला के हॉरर को वह व्यक्ति कभी महसूस ही नहीं कर सकता, जिसे खुद के झूठों के लिए दूसरों की जबान की तालाश हो। भाई पुरुषोत्तम उन तमाम तत्वों को भटियानी और प्रभा दीक्षित में खोजते फिर रहे हैं। ऐसे में हम इतना ही कहना पर्याप्त नहीं रहे हैं कि 'वोट' के गांधी के पक्ष में होने से कुछ नहीं होगा, अगर भारतीयता की समझ आर्गेनिक बुद्धिजीविता के इमामबाड़ों में दम तोड़ रही हो।

[घौथी दुनिया, सितम्बर १९८८]

विरोध की

‘कण-कण में व्यापे हैं राम-
मत भुक्ताओं दगा, लेकर राम का नाम।’

इन पक्षियों वाले पोस्टर आज हर भास्त्राधिकारी सम्मेलन में लगा, या बैंटते हुए, प्राय देखे जा सकते हैं। इस नारे को बनाने वाले डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी संगठन, दिल्ली के सम्प्रतिकर्ता है। कर्मठ, सक्रिय और ऊर्जस्वी। आज के अधिकाश सम्मेलनों अथवा यात्राओं में उन्हें प्राय उपस्थित देखा जा सकता है। पुरुषोत्तम एक आजस्वी वक्ता भी है। अध्ययन और सोच-विचार की पूँजी भी उनके पास बिलकुल है, लेकिन साथ ही एकत्रफापन भी और ऊपर दिया गया नारा उनके इसी एकाग्री सोच का दुष्परिणाम है।

इसानी बिरादरी, इलाहाबाद तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मनाविज्ञान विभाग की साझेदारी में गांधी सम्म्यान, इलाहाबाद में आयोजित दो दिनों के साम्प्रदायिकता-विरोधी सम्मेलन में, तीसरी गोष्ठी का विप्रय-प्रवर्तन करते हुए, बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता के खतरों पर जोर देने के लिये डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल ने सबसे पहले इस नारे की उत्पत्ति का इतिहास ही सामने रखा और बताया कि इसका कितनी लाक्षित्रिता तथा अफलता मिली है। हालांकि दबे स्वर में उन्हान यह सफाई जरूर दी कि इस नारे में के राम वाल्मीकि, तुलसीदास या कि हिन्दू गमाज के आराध्य गम नहीं, बल्कि जन-जन की रामकहानी के राम हैं।

उर्दू के एक प्रसिद्ध शेर की पक्षित इस प्रकार है-
‘इस सादगी पर कौन ना मर जाय, या खुदा’।

सचाई छिपाये नहीं छिपती और अब इतना पूरी तरह स्पष्ट हा चुका कि कम्यूनिस्ट पार्टीयों या जनवादी, प्रगतिवादी बुद्धिजीवियों के द्वारा आयोजित साम्प्रदायिकता-विरोधी सम्मेलनों का एक ही मतलब होता है- हिन्दू साम्प्रदायिकता का विराघ। मुसलमानों की साम्प्रदायिकता को अल्पसंख्यकों की स्वाभाविक तथा निरापद साम्प्रदायिकता करार देते

हुए, लगातार नेपथ्य में करते थले जाने की यह सुनियोजित कोशिश बहुत सम्भव है कि इन्हे अल्पसंख्यक समुदाय की सहानुभूति बटोर रहे होन का परितोष देती हो, लेकिन विद्यार के स्तर पर यह सब एक निहायत वालाक किल्म की सियासी हरकत के सिवा और कुछ नहीं, क्योंकि इसके पीछे हिन्दू-मुस्लिम पारस्पर्य की सम्भावनाओं की तलाश नहीं, बल्कि खुद की राजनीतिक गोट बिठाने का इरादा काम करता होता है। इस सारी कोशिश में कबीर की वह ललकार कही नहीं होती, जो 'अरे, ये दोनों राह न पाये' की अनुगूंज उत्पन्न कर सके। तब 'दलगत स्लागन' में राम के 'कबीर का राम' होने का दावा, सिवा एक वालाक बौद्धिक पैतरे के, स्वयम्भूत और कुछ रह नहीं जाता।

विद्यार की यह एक बुनियादी शर्त है कि उसके पीछे खुद के इस्तेमाल का तर्क मौजूद न रहे। विद्यार एक खुलापन धार्ता है। हवा और दिशा की भाँति, सबके प्रति समान होना उसकी पहली शर्त है। उसके केन्द्र में आदमी का होना जरूरी है और सद्वाई। विद्यार किल्मी एक तरफ से, या एक तरफ को, भौंपू लगाकर हवा में छोड़ने की वस्तु नहीं। उसमें पारदर्शिता जरूरी है। अन्यथा उसे आप घाँड़े जितना तेज उछालिये या उड़ाइये, हवा उसका साथ देगी नहीं और वह थोड़ी ही दूर तक जाकर, लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा- उस विडिया की भाँति जिसके सिर्फ एक ही तरफ के पखं काम कर रहे हों।

'कण-कण में व्यापे हैं राम' के राम हिन्दू समाज के आग्रह्य राम नहीं, बल्कि जन-जन की रामकहानी के राम हैं- अपनी इस स्थापना के द्वारा डॉ पुरुषोत्तम अग्रवाल आखिर किसे समझाना चाहते हैं और क्या ? क्या जन-जन की जो रामकहानी हुआ करती है, उसका हिन्दू समाज से कोई नाता या वास्ता स्वयम्भूत नहीं होता ? क्या ऐसी कोई गुजाइश ही नहीं ? कहना कठिन है कि डॉ पुरुषोत्तम की इस शोध का आधार क्या है, क्योंकि इस तर्क से तो फिर 'पुरुषोत्तम (शब्द या नाम) का भी हिन्दू समाज में कार्ड सम्बन्ध होना मुश्किल ही होगा ?

भाषा को एकत्रफा वकालत में इस्तेमाल करते समय, आदमी को भूल नहीं जाना चाहिये कि प्रसंग और स्थान का ध्यान जरूरी है। जब कोई अदालत के वादी या प्रतिवादी वाले कठघरे के पास खड़ा होकर बोलता है, तब एकत्रफापन प्रसंग की भौंग हो सकता है, लेकिन जब किसी व्यक्ति को एक सुलझे हुए बौद्धिक की हैसियत से विद्यार व्यक्त करने हों- और मामला हिन्दू-मुसलमान के बीच के सम्बन्धों की तरह नाजुक हो- तो हम फिर यही कहेंगे कि एकत्रफापन ज्यादा दूर तक गूँज उत्पन्न करेगा नहीं। जबकि हिन्दू-मुसलमान के प्रसंग में कहीं गई किसी भी बात की तब तक कोई प्रायगिकता सम्भव ही नहीं, जब तक कि उसकी अनुगूंज दानों तक नहीं पहुँचे।

डॉ पुरुषोत्तम ने खुलकर नहीं कहा कि जिस राम से उनका तात्पर्य है, साम्प्रदायिकताविरोधी सभिति के स्लागन में का वह राम कबीर या कि रहीम का राम है, लेकिन इगित था। और इशारा, शायद यह भी कि वाल्मीकि और तुलसीदाम के राम तो सिर्फ हिन्दू सम्प्रदाय के राम हैं। जबकि कबीर और रहीम के राम भी, तुलसीदाम के राम

याहे हों, या नही, लेनिन लाई हो, तो यही अन्वेषण है- पश्चासुदि हो ।

जाहिर है दि. विष्णु २५ अक्टूबर १९४८ विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु
क्योंकि यह उसके विरा. १८८५ । विष्णु विष्णु विष्णु
पुरुषोत्तम से उनके 'स्लोगन' में व सामने हैं विष्णु विष्णु विष्णु
जिज्ञासा को दुराघात नहीं दी जाना । विष्णु विष्णु विष्णु
भले ही कोई वास्ता नहीं हो, लेकिन वा। जीव, विष्णु की विष्णु विष्णु
समाज से कोई वास्ता नहीं हो रहा, विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु
नहीं। 'हिन्दू समाज' की इस जनवादी अपनी जाति विष्णु विष्णु विष्णु
मानस के संवेदन और उत्तेजनी हो रही जाति विष्णु विष्णु विष्णु
नहीं पायेगी।

दूसरे, जब राम की सत्ता में नहीं रही, वह 'जन-जन' का अस्तित्व नहीं हो सकता। इस प्रसंग में यह बताना भी जरूरी होगा कि दिन-शुरू होना। 'मस्जिद' के मामले में हिन्दू समाज की पहुँच या क्षेत्र उसके 'जन-जन' की 'जन-जन' की राम कहानी के राम' की भवित्वता क्या होगी ?

इतर, हाल के कुछ वर्षों में, ऐसे बुद्धिजीवियों की एक लड़ौ अवासि सामने आई है, जो जाति से हिन्दू समाज में रहते हुए बुद्धि से 'बावरी मस्जिद' को तकाल्फ में छुड़ा गया धर्मनिरपेक्ष होने का सबूत मानते दिखाई रहते हैं। जबकि 'राम जन्मभूमि ननाम बावरी मस्जिद' मामले में हिन्दू-मुसलमान का बराबर का धूतीकरण हिन्दू-गुलगा०, की तकरीब में आग फैकने के सिवा कुछ नहीं।

गांधी संस्थान में आयोजित सम्बल्पन की मुहिम भी उसी सिलसिले की एक कड़ी थी, जिसका सारा जोर 'हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता' पर धारा बोलने पर हुआ करता है, बिना इस विस्ता में गये ही कि उद्देश्य क्या है। क्याकि यदि उद्देश्य हिन्दू-मुसलमान की टकराहट को बढ़ाकर खुद के निहित स्वार्थ माध्यना हो, तब इसमें क्या शक कि योजना कारगर है। लेकिन अगर क्षायित उद्देश्य हिन्दू-मुसलमान के दीय की दरारों को पाटना और इनके बीच पारस्पर्य की सम्भावनाओं को विस्तार देना हो, तो गांधी संस्थान क्षेत्रा।

साम्प्रदायिकता के मामले में किसी एक पक्ष को ही पूरी तरह जिम्मेदार ठहराने से बात नहीं नहीं, बिगड़ेगी, क्योंकि साम्प्रदायिकता की ताली कभी भी एक हाथ से नहीं बजा करती। देश का दुर्भाग्य कि जिन परिस्थितियों और ऐतिहासिक दरारों न पाकिस्तान का नवशा तैयार किया, उनको शेष भारत में जड़ें नहीं पकड़ने देन का वानाकरण बनाने की जगह, तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की आड में ओझल कर दिया गया। 'अलग मजहब के लिये अलग मुल्क' के मजहबी नारे का अजगर जब मुँह खालगा, याभत पैदा करेगा जरूर, इस वास्तविकता को लगातार झुठलाया और इस प्रकार भारतवर्ष के अभी और भी टुकड़ किये जा सकने की गजाइश को बनाय रखा गया। हिन्दू-मसलमान के मामले में यहीं पर्याप्त

प्रा १० “गे र से जाहेन औ” खारनाक पर्यं तब भी था, आज भी है और आगे भी तब “(१० वा ११) रहा। ल ११। जि ६९। न पक राष्ट्र का आकार देने का सघर्ष नहीं होगा।

हम यह “। कभी जब तो इस वास्तविकता को स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि ‘हिन्दू-मुस्लिम बांधवी नसिरियाह’ मामला पहला मन्दिर-मस्जिद का मामला नहीं रह गया, बल्कि इसका सम्बन्ध मिन्दू-मुसलमान के ध्युवीकरण, बल्कि कहें कि शक्ति-परीक्षण के पुणीय तक पहुँच धूली है। और आगे” हम मान कि भारतवर्ष का हित हिन्दू-मुसलिम एकजुटता में ही है तो मानना उसी नागा यह भी कि हिन्दू-मुसलमान की इस टकराहट में देश की क्षणि हर गल में होगी, अगर कि इस आग के दरिया को यही नहीं रोका गया।

अफ़्पाम कि अब तक के भास । १३-१४-१५ सम्मेलनों की भूमिका इस मामले में पुरी तरह नकारात्मक ही रही है, इसीकि, जैसा कि पहले ही कहा, इनका जोर एकत्रफा दलीलों की कीमत बसूलने पर ज्यादा रहा। हमारे अधिकाश तथाकथित

बुद्धीविदों ने इस सच्चाइ को ध्यान में रखा ही नहीं कि किसी सम्प्रदाय-विशेष की एकत्रफा हिमायत खुद साम्प्रदायिकता का ही एक हिस्सा हुआ करती है, जो कि उस सम्प्रदाय-विशेष से इसकी कीमत बसूलन के काम आया करती है। हिन्दू और मुसलमान की एक दूरगामी माननेदारी के मवाल को दिन-प्रतिदिन और कितना गड़बड़ा दिया गया है, इसकी एक उपर्युक्त तर्सी इनके १३, १४, १५ सम्मेलनों में देखी जा सकती है। अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की आड में आयोजित हन सारे सम्मेलनों ने हिन्दू मानसिकता को भड़काने का एक ऐसा अनवरत अभियान-सा घलाये रखा है, जो कि दश के लिये घातक है। स्वयं मुफ्तगाना के लिये भी, क्योंकि साम्प्रदायिकता की आग को बुझाने के उपाय हिन्दू मानसिकता को भड़काने की योजनाओं में से निकालने कठिन होगे।

क्या यह सचमुच एक सयोग-भर है कि इन साम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलनों में सिर्फ हिन्दू कट्टरवादिता के परखचे उड़ाये जाते हैं, गुरुत्वम कट्टरता के जिक्र तक से बचा जाता है। और इस घालाकी का वही एक रटा-रटाया तर्क मौजूद मिलेगा कि अल्पसंख्यकों के मजहबी मामलों का क्षुना उन्हें और आतकित करना होगा। जबकि साम्प्रदायिकता के विरोध का सबमें पहला तर्क यही होगा कि बोलने वाला किसी एक पक्ष में न दिखाई पड़े।

समाज के सवालों पर बोलने वाल को जरूरी है कि लोग उसका विश्वास कर सकें और यह तभी सम्भव है, जबकि उसकी बातों में यह गवाही मिले कि वह देश और समाज का केन्द्र में रखकर बाल रहा है, सम्प्रदाय-विशेष का नहीं। एकत्रफा पक्षकारिता आदमी का दूसरे पक्ष के लिये सदिग्द बना देगी और समान प्रनिकिया उत्पन्न नहीं करेगी। जबकि साम्प्रदायिकता के विरोध के लिये जरूरी है कि दोनों ओर के दोषों को उजागर किया जाय। यानी कि अगर मजहबी मामला का क्षुना जाना है, तो दोनों ओर के मामलों को क्षुना जाय। अगर हमें इस पक्ष का नेतृत्व भाग्य नहीं, तो बहतर हागा कि घुप रहे।

हालांकि आज नहीं, तो कल कभी-न-कभी हमें धर्म को समाज के लिये खतरनाक होने की हद तक सवालों से ऊपर भानने से इकार करना ही होगा, अन्यथा सिवा मजहबी मुल्कों की स्थापना के और कोई रास्ता बढ़ेगा नहीं। किसी एक समुदाय पर नहीं इस दायित्व को हमेशा के लिये नहीं लादा जा सकता कि धर्मनिरपेक्ष देश का सपना सिर्फ उन्हें ही देखते रहना होगा।

आज हिन्दू-मुस्लिम दोफाड का यबसे खतरनाक केन्द्रबिन्दु बने रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद की जड़ें बहुत दूर तक गई हैं। कुछ भी सकारात्मक पहल तभी सम्भव है, जबकि दोनों छोर ध्यान में हों। हिन्दू अस्तोष के तार सिर्फ शिवसेना, बजरगदल, विश्वहिन्दू परिषद् या रा० स्व० सघ तक सीमित नहीं। ये अब बाकायदे उस वृहद् हिन्दू समाज तक भी पहुंच चुके हैं, जो धार्मिक अथवा वैद्यारिक मामतां में उदासीनता की हद तक खुला और धर्म को राष्ट्रवाद से जोड़कर देखने से काफी हद तक बचा रहा है। जिसकी स्मृति में इस प्रतीति के अवशेष अभी भी मौजूद है कि एक ही देश में अनेक धर्म साथ-साथ रह सकते हैं। जो अभी देश के भूगोल के अनेकों धर्मों को पर्याप्त होने की धारणाओं के मामले में अन्तिम मोहम्मद से नहीं गुजरा है, लेकिन भविष्य की आहट को सुन रहा है।

अगर मुसलमानों के बढ़ाव को नहीं रोका गया, तो देश के अभी ना जाने और कितने टुकड़े करने ही होगे और इसके सबसे बड़े दुष्परिणाम उन हिन्दुओं को ही भोगने होगे, जिनका इतिहास धार्मिक राज्यों, या कि मजहब को देश से सटाकर ही देखने के अभ्यास की सरहदों तक नहीं गया है— यह आहट अब बहुत सगठित तौर पर उन हिन्दुओं के कानों में भी लगातार पड़ रही है, जो अब तक हिन्दू साम्राज्यिकता की मुख्यधारा से दूर-दूर ही बने रहे हैं। ये हिन्दू सगठनों के प्रभाव में साम्राज्यिकता के प्रति रुक्खान नहीं, बल्कि अस्तित्व-भय के कारण आ रहे हैं और मानसिक तौर पर भविष्य¹ का डर ही इनके वर्तमान के समीकरण को बदल रहा है। इसलिये सबसे पहले, और सबसे ज्यादा, जोर इस बात पर देने की जरूरत है कि दिखाया जा रहा डर छूठा है। और इसके लिये जरूरी होगा हिन्दुओं को यह बताना कि मजहब के हिसाब से मुल्क के सिद्धात का भारत के मुसलमानों के द्वारा किन शब्दों में अलविदा कह दिया जा चुका।

साथ-साथ बताना जरूरी होगा यह भी कि खुम्मी के अन्तर्राष्ट्रीय मजहबी खुमार की सरहदें कैसे सिर्फ ईरान तक ही सीमित हैं। और कि कैसे मजहबी दिग्विजयों के सपने अब वास्तव₂ में अनीत की सामग्री बन चुके। 'मुसलमान जहाँ भी है, वो देश से पहले कौम का हिस्सा है', कश्मीर के मामले में पाकिस्तान के इस मजहबी जेहाद के तर्कों को नेस्त-नाबूद किये बिना, हिन्दुओं के भीतर के डर को निकालना असम्भव ही होगा। खासतौर पर वर्तमान परिस्थितियों में, जबकि मजहब में अलग और आबादी में बहुसङ्ख्यक होने के तर्क से कश्मीर को भारत से अलग करने की मुहिम अपने घरम पर है और सरकार में यह सकल्प अभी भी कही नहीं दिखाई पड़ रहा कि वह कश्मीर को सिर्फ जबानी तौर पर ही नहीं, बल्कि यथार्थ में भी राष्ट्र का अभिन्न अंग मानती है, क्योंकि देश

का अमिन्न अग दूसरं सारं अगों से शताब्दियों तक के लिये विशेष कानूनी दर्जा किस तर्क से पा सकता है, इस सवाल का सरकार के पास कोई जवाब नहीं। सरकार खुद के झूठ को सच साबित करने पर तुली है, जबकि कश्मीर का जहर कन्याकुमारी तक फैल चुका। कश्मीरी हिन्दुओं को निष्कासन ने कश्मीर की समस्या की पिछली सरहदें छोड़ दी है।

इलाहाबाद के इस साम्राज्यिकता विरोधी सम्मेलन में सासद सुभाषिनी अली भी आई थीं और कश्मीर के मामले में उनका सारा जोर इस बात पर था कि कश्मीर के बहुसंख्यक मेरठ, मुरादाबाद और भागलपुर से सहमे हुए हैं और उन्हें डर है कि अगर कश्मीर को भारत में वास्तव में मिला लिया गया, तो उनके साथ भी यही होगा।

ऐसे में भारत की हिन्दूबहुलता का साम्राज्यिक दणों का मूलकारण बताने वालों को इस सवाल का जवाब भी देना जरूर चाहिये कि कल अगर यह अनुपात बदल जाय, अर्थात भारत में मुसलमानों की संख्या घौरासी और हिन्दुओं की बारह-तेरह प्रतिशत हो जाय, तो क्या तब हिन्दू अल्पसंख्यक संघमुद्य आज के मुस्लिम अल्पसंख्यकों से बेहतर स्थितियों में होगे ? जाहिर है कि इस सवाल का जवाब जानने को सिर्फ कश्मीर ही काफी है।

सच्चाइयों किसी भी कड़वी हों, उनसे मुह घुराकर समस्याओं का हल असम्भव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओं में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, जिनमें साम्राज्यिक कट्टरता हिन्दू राष्ट्रवाद के उस दु स्वप्न की हद तक भी पेंगे लेने लगी है, जो अतत हिन्दू समाज और भारतीय संस्कृति के लिये भी खतरनाक ही साबित होगी, क्योंकि अधराष्ट्रवाद ऐसे ही दौर में गहरी जड़ें डालता है, जब राष्ट्र की घेतना लुज-पुज हो चुकी हो। और अगर हम मानते हो- जो कि हमें मानना ही चाहिये- कि अधराष्ट्रवाद यौंकि संवेदन के स्तर पर कट्टर बनाता है, इसलिये न सिर्फ संस्कृति, बल्कि अंतत देश की गम्भीर क्षति करता है, तो इस मामले में राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के बीच की विभाजक रेखा तय करनी ही होगी और अगर पता चले कि राष्ट्रीयता की परिणति राष्ट्रवाद में होना अपरिहार्य है, तो राष्ट्र की अवधारणा को ही त्यागना होगा, क्योंकि आदमी से बड़ा कुछ नहीं। आदमियत को पूरी सृष्टि के दायरे में देखना जरूरी है। इसलिये आज देश की यह सबसे गम्भीर और गहरी जरूरत है कि हम हिन्दू-मुस्लिम साम्राज्यिकता के उन तमाम सुलगते सवालों को अपनी घेतना और संवेदना के रूपरू पूरे आकार-प्रकार में आने दें, जिनको कि हम टालते ही चले आये हैं।

भूलना नहीं चाहिये कि ऊपरी तौर पर, फिलहाल भले ही राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मसला ही हिन्दू-मुस्लिम साम्राज्यिकता का केन्द्र बिन्दु दिखाई दे रहा हो, लेकिन वास्तव में इसकी जड़ें देश को धर्म और मजहब के हिसाब से टुकड़ों में बोटने के उस इतिहास से ही गुंथी हैं, जिसका नाम पाकिस्तान है और कि जो आज खालिस्तान की अवधारणा की पृष्ठभूमि बना हुआ है। क्योंकि आगर भारत का विभाजन नहीं हुआ होता, और हिन्दू-मुस्लिम साझा पूरी तरह आकार ले पाता, तो इतिहास के पन्ने भी दखलदौजी नहीं कर पाते। इतिहास को भी आखिर आदमी ही चलाता है, इतिहास आदमी को नहीं चलाता।

विभाजन, कह लें कि गगा-जमुनी सस्कृति और भूगोल के दोफाड़, की नौबत नहीं आने पर इतिहास को सिर्फ हिन्दू-मुसलमान राजाओं की लडाईयों के दस्तावेज के तौर पर देखा जा सकता था, हिन्दू-मुसलमान की लडाई के स्पष्ट में नहीं, क्योंकि सदियों की आपसदारी ने ऐसी जमीन तैयार कर दी थी, जहाँ छागड़े वाहे लाख होते रहे हाँ, साम्प्रदायिक दो नहीं होते थे। ऐसे में अगर गहराई में जाकर देखें, तो हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के भयानक दुष्परिणामों को बदाने का सिवा इसका कोई रास्ता नहीं कि एक देश में अनेक धर्मों के सहअस्तित्व के सिद्धात को व्यापक सामाजिक आधार दिया, और सत्ता की राजनीति की उस राष्ट्रधाती प्रवृत्ति पर गहरा अकुश लगाया जाए, जो कुर्सियों का मामला सामने आने पर देश और समाज की आतंकिक अधिरचना के सवालों को ताक पर रखते देर नहीं लगाती।

पाकिस्तान की उत्पत्ति के सवालों को नेपथ्य में ढालना हिन्दू-रुदिन १९४७ देर, के मूल कारणों से मुँह घुराना होगा। इस बात में कुछ दम नहीं कि पाकिस्तान के सवालों में उतरना भारतीय मुसलमानों की दुखती रग को छेड़ना है, क्योंकि यह प्रकारातर से भारतीय मुसलमानों की भारतीयता पर उगली उठाना है। हिन्दू-मुसलमान की जिस गगा-जमुनी साझेदारी ने जो एक गहरा रूपाकार लिया था, उसे कुछ इटका और राजब की भजहबी कट्टरता ने भी दिया, लेकिन हिन्दू-मुसलमान के बीच जहर बोने की सबसे गहरी साजिश अग्रेजों ने की। 'फूट डालो, राज करो' की कूटनीति के तहत ही अग्रेजों ने सिखों को भी उनके एक स्वतंत्र कौम होने का पहाड़ा रटाना शुरू किया, जबकि मुगल शासन के अन्तिम दौर में भी सिखों ने हिन्दुओं से अलग होने का दावा कभी नहीं किया। ऐसे में मानना होगा कि सिखों को हिन्दुओं से अलगाने की साजिश मुसलमान शासकों ने नहीं की थी।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का एक पेंच अब 'ब्लूस्टार ऑपरेशन' और नवम्बर १९८४ से भी जुड़ गया है। सिखों और हिन्दुओं के बीच वैमनस्य के बीज बोने का काम अग्रेजों से भी बड़े पैमाने पर काग्रेस (आई) के द्वारा किया गया और सिख तथा हिन्दू दोनों सम्प्रदायों के क्षुद्रबुद्धि तत्वों के घलते आज नौबत कहाँ तक पहुँच चुकी, अलग से बताना जरूरी नहीं होना चाहिये। इस प्रकार, हिन्दू साम्प्रदायिकता को एक भयातह आत्महता मुकाम तक पहुँचाने में राठ स्वरूप सघ से कहाँ ज्यादा खतरनाक भूमिका काग्रेस (आई) की रही है। देश का दुर्भाग्य कि विरोधी राजनीतिक दलों ने भी काग्रेस (आई) को हिन्दू-सिख दोफाड़ का राष्ट्रधाती खेल खेलने को खुला छोड़ दिया और देश के व्यापक हितों की जगह, खुद की सनसनीबाज प्रकारिता को प्राथमिकता देने वाले अखबारों ने कभी भी इस सवाल को पूरी तरह ऊपर आने ही नहीं दिया कि 'ब्लूस्टार ऑपरेशन' की धमक देश की छाती में कितनी दूर तक जायेगी।

पजाब की आग ने सामान्य हिन्दू मानस को और अधिक विदीर्ण कर दिया है। सिखों की आड जाती रही, इस विदारक अनुभूति ने भी हिन्दुओं को मुसलमानों को लेकर और अधिक सवेदनशील बना दिया है।

ये सब गते इसलिये कि हिन्दुओं के डर को समझे बिना, उनमें एकाएक बाढ़ की भाति उफनते सम्प्रदाय-बोध को भी ठीक-ठीक नहीं ही समझा जा सकता। अल्पसंख्यकों के सम्प्रदाय-बोध को भी बहुसंख्यकों के सम्प्रदाय-बोध के आलोक में ही कुछ गहरे तक देखा जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू सम्प्रदाय-बोध की सरहदें अब साम्राज्यिक कट्टरता के उन खतरनाक मुकामों तक भी पहुँचने लगी हैं, जहां राष्ट्रीयता और अपराष्ट्रवाद के बीच की विभाजक रेखाएं ओहले हो जाती हैं। २० स्व० सध के 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा का सबसे बड़ा खोट ही यह दिखता है कि इनकी 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा 'मुस्लिम कौम' के समानातर 'हिन्दू कौम' की अधिरचना के सेन्ट्राल पर टिकी है। 'हिन्दू राष्ट्र' की इस कौमी अवधारणा में राष्ट्रीयता के बुनियादी सारतत्वों की धनता और धिता, दोनों नदारद हैं।

भारत की सारी अद्वितीयता इस एक आधारभूत अवधारणा में अतर्निहित रही है कि नाना जातियों, धर्मों, वर्गों और आस्था-विश्वासों के लोग एक ही स्थान पर रह रहे हैं नहीं अल्लों, बल्कि ऐसा होने पर संस्कृति, वाह मय तथा सामाजिक कार्य-कलापों में भी महान अंकगत्मक परिवर्तन घटित हो सकत है। अगर कदाचित हम भारत के इतिहास को अग्रजों के दृश्य से नहीं, बल्कि इतिहास के सामाजिक साक्षों के आलोक में देखें, तो वर्ण-जातियों और धर्मों के अतर्नव्यन की एक लम्बी परम्परा हमें घटित करेगी जरूर, क्योंकि विभिन्न वर्ण, धर्मों और जातियों के समाज की ऐसी कालजयी अनुरूप भारत के सिवा किसी अन्य देश में क्यापि नहीं दिखेगी। इस विमुग्धकारी अनुरूप को हमारी संस्कृति और वाह मय की भाँति सुना जा सकता है।

माना कि इस्लाम मजहब के तौर पर भारत के सास्कृतिक वितान का अग कभी नहीं बन पाया, लेकिन सामाजिक कार्य-कलापों की साझेदारी ने फिर भी अपने रण दिखाए जरूर और इससे जहाँ दर्शन के क्षेत्र में ऐसे सूक्षियों का उदय हुआ, जिनकी सौम्य से भारत की मिट्टी की महक पूर्णता जान पड़ती है, वहीं साहित्य और संगीत के क्षेत्र में भी एक ऐसा अपूर्व घमत्कार घटित हुआ कि अगर नाम भौजूद नहीं, तो पहचानना असम्भव कि कौन-सा स्वर हिन्दू ने गा दिया और कौन-सा मुसलमान का है। कौन-सा शब्द हिन्दू ने कह दिया, कौन-सा मुसलमान ने। अरबी-फारसी ने हजार वर्षों में उतना बड़ा शायर एक भी नहीं दिया, जितने बड़े कि दक्षिण-पूर्वियों उर्दू की सिर्फ तीन संदिव्यों में मिल जाएं। बाहर से आने वालों को भी खुद की अतरात्मा के सीमातों तक घले आन का न्योता अगर किसी देश ने दिया है, तो भारत ने- और अफसास कि हिन्दू जाति की सरक्षा के सबसे बड़े दावेदार २० स्व० सध के पास भारत की यह 'वसुधैवकुटुम्बका' की सरहदों का छूने वाली अवधारणा ही अनुपस्थित है। कारण समाज की जगह सम्प्रदाय, राष्ट्र की जगह कौम और संस्कृति की जगह धार्मिक कट्टरता को प्रथम स्थान देना है, क्योंकि वह काम ज्यादा आसान है।

देश का दुर्भाग्य कि औपनिवेशिक राज्य लक्ष्य ने राष्ट्र की सकल्पना और अवधारणाओं से पूरी तरह शून्य लोगों को केन्द्र भे स्थापित कर दिया है। पर्याप्त है यह

कि आज देश की अखण्डता का एकमात्र आधार सिर्फ सैन्यबल रह गया है। राष्ट्रीयता के सास्कृतिक तथा सामाजिक आधारों को औपनिवेशिक राजनीति के विरासतदारों ने खतरे के निशान तक नस्त-नाबूद कर डाला है, इसलिए हिन्दू-मुसलमान साम्राज्यिकता के सवालों को अब सिर्फ 'रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद' के दायरे में देखने में बद्धना जरूरी होगा, क्याकि यदि इस समस्या का हल राजनीति में से निकला, तो फिर यह और जो-कुछ भी हो, हिन्दू-मुस्लिम साम्राज्यिकता का हल तो यह कदापि नहीं हो सकेगा। हिन्दू-मुसलमान के बीच का कोई भी सकारात्मक हल हिन्दू-मुसलमान मिलकर ही खोज सकते हैं।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि भारत की मौजूदा राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के घकते अभी भी मौजूद हैं और ये देश की आत्मा का नासूर बन चुके हैं। इस राष्ट्रधाती राजनीति से हमारा काफी साबका हिन्दू-सिख समस्या के हल के काग्रसी नुस्खों के दौर में पड़ चुका है। ऐसे में, यह जो हिन्दुओं में मुसलमान और मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति नफरत पकाने का लगभग वही सिलसिला हमारे देखते-देखते आकार लेता जा रहा है, इसको अगर बहुत सावधानी से नहीं देखा-समझा गया, तो फिर हाथ मलने से मैल के सिवा और कुछ मिलना कठिन ही होगा। इसलिए, अमृदिक्ताविरोधी सम्मेलनों-यात्राओं की छड़ी लगाने से पहले, देखना जरूरी होगा कि कही हम ऐसा करके साम्राज्यिकता की ओर में खुद की खिंडी राँघने की अभ्यासी राजनीति का पजा तो मजबूत नहीं कर रहे।

यहाँ अब फिर प्रारम्भ पर आते हुए, ८० पुरुषोत्तम से यह निवेदन करना ही होगा कि एकतरफा हाका दूसरी तरफ और ज्यादा खुन्स सैद्धान्तिकता करेगा जरूर। यानी 'कण कण में व्यापे हैं राम, मत भड़काओ दगा लेकर उनका नाम' से तब यह ध्वनि निकलेगी जरूर कि दगों की शुरुआत की तोहमत सीधे-सीधे राम का नाम लेने वालों, अर्थात् हिन्दुओं, पर थोपी जा रही है, अन्यथा ८० पुरुषोत्तम अग्रवाल, इसके साथ-साथ, कुछ इस तरह के पोस्टर भी तैयार कराते जरूर कि-

जर्र-जर्र म है खुदा का जलवा-
मत करो खुदा के नाम पर काई बनवा !'

क्योंकि जिस तरह हिन्दुओं के लिये गम कण-कण में, मुसलमानों के लिये भी खुदा जर्र-जर्र में व्याप्त होगा जरूर। अब यह बात दीगर कि न कठपथी हिन्दुओं को कण-कण में पूरी पृथिवी होगी और न कठमजहबी मुसलमानों को जर्र-जर्र में पूरी कायनात।

हालांकि इस प्रकार की मौसमी पोस्टरबाजियों हिन्दू-मुस्लिम समस्या के बुनियादी कारणों में जाने की जगह, अवसरवादी सैद्धान्तिकता के सतही बुद्धुदों पर टिकी होती है, और साम्राज्यिक तकरार की दरारों को पाटने में इनकी दूरगामी सकारात्मक भूमिका होती नहीं, लेकिन अगर इनका स्वरूप कबीर के राम-रहीम के बीच की अमरसत्ता का

होता, तो कम-से-कम एक साम्प्रदायिक सौमनस्य की विता इनमें देखी जा सकती थी। इतना ही नहीं, इन तथाकथित नाम्बृत विरोधी सम्मेलनों में सामाजिक सकल्प और जुशारूपन का भी अकाल ही दिखाई पड़ेगा। साम्प्रदायिक दंगों के समय ये नेतृत्व में घले जाते हैं और फिर धीरे-धीरे, वर्षाकाल के उद्गाताओं की भाति, राज्यव्यवस्था के साथे में राहतकार्यों का सबाब लूटने निकल पड़ते हैं, क्योंकि इन्हें जाखिम नहीं उठाने, सिर्फ हवा बनानी है।

इन राष्ट्र विरोधी सम्मेलनों का उद्देश्य आग वारस्तव में हिन्दू-मुस्लिम या हिन्दू-सिख तकरारों को राकना होता, तो ये अपना रुख सबसे पहले राज्यव्यवस्था की ओर करत, जिसे कि कभी सिख और कभी मुसलमानों के कल्पेआम में हाथ बँटाते रही हाथों पकड़ा जा चुका है। जिसमें मिले अभयदान की आड में ही खूनी दस्ते सरे-आम लूट-मार मचात रहते हैं, क्योंकि अगर राज्यव्यवस्था से शह नहीं मिले, तो साम्प्रदायिक दंगे जगल की आग नहीं बन सकते।

मारी साम्प्रदायिक खँरेजियों के बेतार-के-तार अतत राज्यव्यवस्था तक जाते हैं, क्योंकि बिना इस इतमीनान के साम्प्रदायिक गुण्डे अपना काम कर ही नहीं सकते कि उनका कुछ नहीं बिगड़ना। दंगों को रोकना राज्य की जिम्मेदारी है, राष्ट्राधिकृताविरोधी सम्मेलनों की नहीं। इस जिम्मेदारी को खुद के हाथों में लेना कही-न-कही राज्यव्यवस्था का सीधी जवाबदेहियों से बद्याना भी है। जबकि जो सरकार साम्प्रदायिक दंगों की रोक-थाम नहीं कर सके, उससे तुरत त्यागात्र माँगा जाना चाहिये, क्योंकि राज्य का घरित्र आज्ञादायि, हो। पर ही साम्प्रदायिक शक्तियों को भी बढ़ावा भिलता है।

स्वामी स्वरूपानन्द जी की गिरफ्तारी से भी यही सिद्ध होता है कि अगर छूट नहीं दें, तो साम्प्रदायिकता भड़काने के सारे मनमूखे धरे रह जाएंगे। धार्मिक कठमुल्लेपन को कानून से ऊपर नहीं आने देने की जिम्मेदारी हरहाल में राज्य की है और १८८८ संगठनों का पहला काम सरकार पर यह नैतिक तथा सामाजिक दबाव बनाना ही होना चाहिये कि वह धर्म को कानून से ऊपर नहीं आने दे। लकिन कितने आश्वर्य की बात है कि इन १८८८ संगठनों के सिद्धातकारों ने न कभी अल्पसंख्यकों की राजनीति के खतरनाक खेल के विरुद्ध राजनैतिक दलों का धेराव किया, न सविधान में 'प्रार्थिक निवाज' को कानून की शक्ति दिये जाने पर आपति उठाई और न ही कभी समाज को धर्मनिरपेक्षता की आड में धार्मिक बोट-बैकों के स्थापित किये जा रहे होने के राष्ट्रधाती पड़यत्रों के दृप्परिणामों की कोई घतावनी दी।

साम्प्रदायिक दंगे धार्मिक नहीं, कानूनी मामले होते हैं और इन्हें कानून की जगह पोर्टर-सम्मेलनों-पदयात्राओं से हल करने की पहल करना, कही-न-कही राज्यव्यवस्था के हाथों खेलना है। कानून के राज्य में धर्म को कानून से ऊपर नहीं आने देना राज्य की जिम्मेदारी है। राज्य को इस जिम्मेदारी में मुँह चुराने की छूट देना ठीक नहीं।

कहा जा सकता है कि राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के मामले में इन

स्वामी नाना की जान न्यायिकता से निपत्ति की गई थी। इसके लिए एक अद्वितीय बात यह थी कि कानून दाखिलेपन की बात नहीं। १५१५ वर्ष की विधि (प्रौद्योगिकी) द्वारा नाना की जान न्यायिकता से निपत्ति की गई थी। अद्वितीय यह कि भारकारी रुख प्राधिकार्य के फैसले पर आप ऐसा को ही असहित देख रखा। कोई गद्दीमें भी न्यायालय के प्रतिकारी का दिशा न दी गई थी। जानकी दर व लोगों की लकाजा यही बनता है कि दो लाठिया सर्फन। दालों में न्या असू दें।

राम जन्मार्थी बनाए राबड़ी नस्तिज्जट मामले में सरकार का गिरेबान पहले हम लिखने के साथ पकड़ना जरूरी होगा कि क्या 'गारामटी' ने इस बात की तिं शर्तान्तरिक्ष द्वावो में आकर उसका रुख । कैगा ठीक ही होगा, तो कि शास्त्रान्तरिक्ष मानव में प्रकट हुआ ? जो सरकार शाहबानो भाष्टले में अवौद्य न्यायालय के प्रमाण का कुट का टोकरी में फेक, और अंसद से भवीत्य गारामटी के न्यायादीयों के तमाला करना सकती है, वह ठीक बहाने नजारे बदूमख्य होते । के द्वावो में भास्त्रान्तरिक्ष में गाराम राबड़ी नस्तिज्जट मामले में भी उपरियत नहीं करती, उसकी क्या गारामटी तो ? कही किसी भी मुकाम पर सरकार कानून में दखल नहीं देती, परन्तु यह बात पत्ती करता, तो बाहरी, हिन्दुओं के द्वारा न्यायालय के फेसले को भाव्य किये जाने को दलील दी जाती गाउये । और आगर इस बारे पर सत्तमूर्ध पूर्ण जाता दिया जाना हो कि यूके रेखा में कानून का लाज्य है और कानून से उपर कोई नहीं, इन्हानेये हिन्दुओं को न्यायालय द्वारा फारला मानना ही होगा, तो अब दिया जाना चाहिए इस बात का भी दिया क्या कानून का गाराम का ठेका सिफे हिन्दुओं के लाल रापा है ?

आगर शाहबानो १८८८ में न नुसख्तमान। एवं एवं अन्यथा, देश एवं विद्युत का विभाता, तो आज हिन्दुओं एवं नवाचाल विभक्ति इ. ग. ज. विव. ए था "कृ ष्ण"। एवं कानून का अस्मान करना ही पालिये। कानून के उत्तम विवरण एवं विवरण के लिए एवं विवरण ने कानून को धर्म से ऊपर ला लिया होता और तो जी । हिन्दु भृत्यां ज्ञान का तथा उन पर धार्मिक लक्षण का एवं लक्षण से उपर भावे उत्तम एवं अद्यागत एवं ज्ञानात्मक एवं ज्ञानात्मक जा सकता था । यह नैतिक देखाव उल्ला जा एवं ज्ञान था एवं विद्युत्यात्मक एवं ज्ञान के ज्ञान उभा के कानून को अस्मान देने की अवधि गलती जिम्मेदारी एवं ज्ञान के, भूमिका विवरण का अवधि दृष्टि पर ही सामृद्धायिक । एवं भूमि एवं ज्ञान का विवरण के ।

कानून साम्प्रदायिकता का बढ़ावा (संसद १९८५, नं ४१, १९८५) ११४, नं ११, १९८५) ११४, नं ११४
आज ग्रंथिया, मुख्यमंत्री या साम्प्रदायिक, भाजपीय, नं १९८५) जो को-शर्करा का दर
दाटक रखीया समझे आते ही साम्प्रदायिक शर्करा को जो भी भूमि का हो, आज १९८५) अधिकार
अफसोस कि, विपक्षी भाजपीयिक १९८५) भी आति रुप उठा कर १९८५
मगठनों का जोर भी राज्य के साम्प्रदायिक द्वारा पर्याप्त रहने में से है। जबकि
अगर राज्यव्यवस्था का घण्टिया या दी साम्प्रदायिक बा रहता है, और बरकरार रहती है
धर्म, जाति तथा क्षणों के आधार पर दी की भाजपीयित का स्थिरान्वित भान्यता, तो
साम्प्रदायिक तकराजों और द्वा का कलापि नहीं रहका जा सकेगा, विधायिक १९८५) को

गांधी से टकरा और उसे एक प्रभावी नेतृत्व द्युनीती दे सक, ऐसा कोई सामाजिक संगठन नहीं है। भारत में ही ही नहीं।

१८४७ के बाद, भारत की औपनिवेशिक राज्यव्यवस्था ने पहला बाग किसी ऐसे सामाजिक संगठन की सम्भावना तक को ध्वस्त कर देने का हो किया, जो राज्य के सामने कार्ड नेतृत्व द्युनीती खड़ी कर सके। गांधी का बहना इसी हादरो का सबूत है। 'इन्दिरा हज इंडिया एण्ड इंडिया इंज इन्डिरा' का नाम इसी मिलिसिल की देन था, जो १९७१ वर्ष के लिये बड़ा गया था कि श्रीनरेंगाधी वा राजीवगांधी जो-कुछ नहीं। ऐसे प्रकार सातार में, हुट इंडिया यानी भारतवर्ष का हा किया हुआ होगा।

लोटपौर के लतादे में राज्य की निरंकुशता के प्रक्षेपण के सबैधानिक होर-दरवाजों से कारण ही आगातमिथि, 'लुम्टार औपरेशन' और नवम्बर १९८४ के राष्ट्रद्वाती हादरों के भागी पल्टभूमि तैयार हुई और आगर अब भी यही सिलमिला बना रहता है, तो ये प्राप्ति गम्भेलन सिर्फ तमाशे बनकर रह जायेग और इनका सामना नहीं। लुट भूमि से साम्राज्यिकता को भड़काने का एक और तरीका है। अब जहां रह जाएगा, क्याकि 'सिर्फ बहुराष्यकों की साम्राज्यिकता ही जरूरी' है। तुष्टिकरी गिरावट अतरा अन्यराष्यकों की साम्राज्यिकता 'र आरप' के लियाई पढ़ाया। ये जिस शहर जिस माहल्ले आप गली में अपने तन्दू, गव्वा, भाग एवं फारफापन मिल्दे साम्राज्यिक भावतयों के हाथ मजबूत करने के लिया जौर दुर्ग के नहीं।

गार द्वारा दर्शन का तर्फ हा कि इनमें हिन्दूओं का १५%, २०% में इनना जन लेने का पर्याप्त हाल था। वे कि द्विगोदी नहीं, नी भव्याल १५% हांगा कि विन इन्दू बुद्धजीवियों की व्यापक हिंदु समाज। कोई नहीं, और जिनका भारा राम का नाम लें जा जाए। वे कहा भड़कान का गहला जिमेदार ठहराने के एकत्रफापन पर दिका है, मिल्दू-मुमिला साम्राज्यिकता की भमस्या प्रा को नह कर्म में उनकी भूमिका विदरी प्रभावी वा प्रापणिक हो ज्यकरी, एस अनुगान के लिये इनना ही जन लना काशी छुणा तो नको अब तक की सामकरणी क्या साधित कर सकती है।

अन्यराष्यकों के भय का तर्क उपर्युक्त तर्फ पर्याप्त है। जस्ती हांगा कि भारत में मुस्लिम समूताय के भय का कारण उसका अन्यराष्यक नहीं, बल्कि बहुराष्यक हाना है। पूरे विश्व में मुमलमाना के एक कोम हान के नाम न छुठी ही जही, लकिन मुमलमाना की एक वैश्विक समूदाय की छवि उकरी जरूर है। खानताज पर ईगन में खुमैनी के हम्मामी जहाद के बाद। जिस आज मिल्दू पुनर्मत्यानवाद का लहर कहकर लाठी में याप का तरह लपटकर दिखाना चाहत है ज्यां विं सगान इसको वास्तविक जड़ इज्लामा वैश्विकता के उस खाक से भा गुर्ही नड़ दे जिसमें मजहब की मण्हद ढंश वीं मण्हदा और ऊपर घापित की गड हा।

खुले शब्दों में कहें, तो जिसका मतलब सीधे-सीधे यही निकलता, या निकाला जाता, है कि मुस्लिम समुदाय देश की सरहदों तक सीमित नहीं। और यूकि उसका सकट दरअसल इस्लाम का सकट है, इसलिये विश्व के किसी भी कोने में ऐसा होने पर शेष भार मुस्लिम देश उसे नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक खुराक पहुँचाएंगे जरूर।

ऐन दाये-बाये ५८८, ८८, से धिरे हिन्दू समुदाय का सारा डर मुस्लिम समुदाय की इसी वैशिक वृहदता से जुड़ा है। बिलकुल सम्भव है कि यह एक शुद्ध काल्पनिक डर और रा० स्व० संघ-जैसे कट्टरपथी हिन्दू सम्प्रदायों के द्वारा बहुत ही धालाकी और कुटिलता के गाथ खड़ा किया गया छूठा हौवा- मात्र हो, लेकिन यह कैसे तय होगा कि काल्पनिक डर को डर नहीं माना जा सकता ? बल्कि किन्हीं अर्थों में काल्पनिक डर वास्तविक डर से भी खतरनाक होता है, क्योंकि यह धिता को जकड़ लेता है और धिता में पैठा डर ही सबसे नाजुक डर होता है। इसलिये ८८, ८९, संगठनों की इस मामले में एक अत्यन्त ही प्रभावी भूमिका हो सकती है कि वो मुस्लिम वृहदता के भारत के अन्य समुदायों के लिये कही से भी और कर्त्ता खतरनाक नहीं होने के ऐसे प्रामाणिक तर्क उपस्थित करें, जिससे कि मुस्लिम वृहदता के अंतर्राष्ट्रीय खाकों के बारे में सिद्ध किया जा सके कि इसकी सरहद गैरइस्लामी मुल्कों के सामुदायिक समीकरणों में दरार डालने की हदां तक नहीं जा सकती।

आज जो रा० स्व० संघ या शिवसेना- जैसे कट्टरपथी हिन्दू संगठन हिन्दू समुदाय को अपनी एक अपरिहार्य जरूरत दिखाई पड़ने लगे हैं, इसका मूल कारण इस्लामी वैशिकता की वह अवधारणा ही है, जो बेनजीर भुट्टो को तक यह दावा करने का धार्मिक-राजनैतिक आधार दे रही है कि मुसलमानों की फिक्र पाकिस्तान का फर्ज है।

आदमी की जगह उसकी नस्ल, जाति या मजहब को केन्द्र में रखकर घलने की राजनीति के बीच धर्मनिरपेक्षता का द्वीप बसाने की कुछ बुनियादी शर्त हागी और इन शर्तों से मुँह चुराने वाले धर्मनिरपेक्षता का धधा घाहे जितना कर लें, वास्तिक धर्मनिरपेक्ष राज्य को आकार देना इनके वश की बात नहीं, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य की पहली शर्त मजहबी-धार्मिक रीति-रिवाजों को कानून की शक्ति देने से इकार होगा।

मुस्लिम वैशिकता सिर्फ एक हौवा भी हो, तो इसको हौवा साबित करना जरूरी होगा, क्योंकि इसे लोगों के भीतर तक उतार दिया गया है।

भारत का अकेला हिन्दूबहुल देश होना कोरा भावनात्मक नहीं, बल्कि एक भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तथ्य है। इसका एक कारण दूसरों के बलात् धर्मातरण अथवा धर्म को दूसरे देशों पर कब्जा करने का नैतिक आधार बनाने की हिन्दू चिंतन में कोई व्यवस्था नहीं होना भी हो सकता है। दूसरा देश का भूगोल ही नहीं, बल्कि संसाधनों में विशाल और तीसरा हिन्दुओं का समरभीरु-कायर-आलसी होना भी। लेकिन आज की स्थिति भिन्न है। अपनी राजनैतिक उर्दासीनता और जातीय विघटन का एक लम्बा इतिहास आईने की तरह सामने मौजूद होने से जातीय पुनरुत्थानवाद आज हिन्दुओं की सामुदायिक जरूरत बन गया है। इस्लामी वृहदता का हिन्दुओं के इस सामुदायिक डर से

कोई दूर का भी वास्ता क्यों नहीं होना चाहिये, इसकी तार्किक विवेचना के बिना हिन्दुओं में बढ़ती साम्प्रदायिकता का निदान नहीं ही खोजा जा सकेगा, क्योंकि सामुदायिक डर ही लोगों को साम्प्रदायिक कट्टरपथियों के निकट ले जाता है।

इस प्रकार हिन्दू-मुसलमान, दोनों का डर एक-दूसरे के बहुसंख्यक होने के अभिज्ञान की उपज है। मुस्लिम समुदाय के अल्पसंख्यक होने का तर्क देने, और इस तर्क से उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं से खतरा बताने वालों को भूलना नहीं चाहिये कि भारत में वास्तविक अल्पसंख्यक पारसी और ईसाई समुदाय हैं और इन्हें हिन्दुओं से या मिन्दुओं को हन्से कोई ऐसा डर नहीं, जो खतरे के निशान से ऊपर आता दिखाई पड़ रहा हो। सिखों के भी अल्पसंख्यक होने की बात में कोई बजान नहीं, क्योंकि 'खालिस्तान' का तर्क अल्पसंख्यक होने का तर्क नहीं है।

ऐसा नहीं कि हिन्दू धर्म की बौद्ध या जैन धर्मों से टकराहटों की सरहदें धार्मिक उन्माद की परिधियों तक न गई हों, लेकिन टकराहटे धर्म के हिसाब से मुल्क के कौमी जैमाद के तर्क तक कभी नहीं पहुंची। दूसरे, 'फासिज्म' एक राजनीतिक 'फेनोमिना' के नौर पर भारत में अपनी जड़ें ज्यादा गहरी कभी नहीं कर पाया, क्योंकि 'सिर्फ हम ही सही हैं' का वहशीपन सकल हिन्दू समाज का सत्य कभी नहीं बन पाया। इसका श्रेय हिन्दुओं की जगह भारत की मिट्टी या कि यहाँ कि परम्परागत बनावट को देने में कुछ हर्ज नहीं, लेकिन इस चाक्खुस सत्य को सिर्फ हिन्दू-विरोध के उत्साह में ओङ्काल करने का यह एक स्वाभाविक परिणाम होगा कि हिन्दुओं की सामाजिक, धार्मिक और वैद्यारिक बनावट के उन बुनियादी सारतत्वों पर से ही हमारी आँख हट जायेगी, जिसने, मारामारी के बीच ही सही, लेकिन अतत हिन्दू-मुसलमानों के एक सहस्राब्दी तक के साझे को भम्भव बनाया, जबकि इस्लाम की एकमुखता में सामुदायिक समरसता की सरहदे सीमित हो जाती है।

हिन्दू साम्प्रदायिकता के आज के ढाँचे का सबसे खतरनाक पक्ष यही है कि इसमें 'फासिज्म' के तत्व आकार लेने लगे हैं। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। लगातार के दांगों के बाद भेरठ में कई बड़े चौराहों में यातायात पुलिस के खड़े रहने की जगहों पर, राम, शिव और हनुमान की विशाल मूर्तियाँ स्थापित कर दी गई हैं। धर्म को चौराहों पर उतार लाने का यह सिलसिला साम्प्रदायिक बर्बरता के उदय का सबूत है और इसे यही नहीं रोकना, स्वयं हिन्दू समाज के लिये आत्मधाती सिद्ध होगा, क्योंकि 'फासिज्म' के विपैले कीटाणु आगे चलकर खुद अपन देश और समाज के लिये कितने खतरनाक सिद्ध होते हैं, इसकी गवाही में फ्यूहरर हिटलर का अवतार इतिहास में मौजूद भिलेगा।

यातायात पुलिस के खड़े होने की जगह पर आराध्य अवतार पुरुषों की मूर्तियों की स्थापना धार्मिक अवधारणा में साम्प्रदायिक शक्ति-प्रदर्शन के समावेश की खुली कारस्तानी है और आश्चर्य कि धर्मनिरपेक्षता की घुट्टी में पली हुई भारत सरकार को इसमें कहीं कोई आपति कर्त्तव्य नहीं। जबकि कानून के राज्य के तर्क से इन मूर्तियों को हरहाल में सड़कों पर से हटा दिया जाना चाहिय था और हटा दिया जाना चाहिये। क्योंकि अगर

हिन्दूओं को घौसहो पर यातायात पुलिस की जगह धार्मिक सूनिया वा रथांपत वा न को कृष्ण हो सकती है, नो अग्र दर्भावलार्थि । का भपना-जापना धर्मिक तरीका वा बनारे की व्या नहीं । और अग्र वह कृष्ण मुसलमानों को नक्षा हो सकती, तथ विद्या न भने । या ११. कि धर्मान्वयक्षता के। आउ भी १२. दर्शन-दाव की जड़ पुरुषा कर्त्ता व एक अपर्याप्त शब्द १३. शब्दिल १४. हालाके सरकार का जरान यह भी भी परस्ता है कि उसने इतिहास १५. भजाए बनाने की आजादी भी दे रखी है ।

ताजजुब कि १६. ' १० विं सम्बलना के भूत्रभाषा का ना धर्म के इस सड़कीकरण मे कुछ नहीं लगा देना । जबकि १७. के गड़कीकरण की वा भराजक प्रवृत्ति गमजन्मभूमि मे कही ज्यादा खतरनाक मामला है, क्याकि कहांचित गमजन्मभूमि मे हिन्दुओं के मनद्याह स्थान पर राम का मन्दिर बन जाता है तो भी इसमे मुसलमानों पर कोई कहर नहीं टूट पड़गा, लकिन धर्म का यह भड़कीकरण उनके अपने गस्ता पर भी दबाव उलगा जाए ।

बहुमत्यकृत नाना भ्रष्टपत्रियों का उगत का निमित्त लग जाए तो भान लिया जाना चाहिये कि यह गुण्डई के लिये कुछ नहीं । आदमी का दूसरे को भातवना होना जरूरी है । लर्बरना भना खूब भी खाती है । मनुष्यता के धृत्यन गायब होने लगा, तो इस खुशफहमी १७. इहना तीक नहों कि भर्त्या काफी है । व्यक्ति हो कि समुदाय, दूसरों का उगवना होना ठीक नहीं क्याकि उसना नहीं है, जिसम गशनी खत्म हो चुकी हो ।

१८. या १९. अगर आदमी का उजाला नहीं, तो खतरनाक अद्याकुप्प है । लकिन इस दात पर फिर जाए देना जरूरी होगा कि साम्राज्यिकता के भवालों को इनके पुरे २०. अपृथक वे दखना होगा । तब हम उस अतीत की आग झाँकना भी जरूरी होगा, जबकि देश विशाल था और इसीलिय यहाँ के वासियों के हृदय भी । बाहर मे आन वालों को मार भगान की जगह, 'आओ, तुम भी रहो, आओ, तुम भी रहो,' की उदात्तता के पीछे देश का विशाल होना ही भवमे मुख्य कारण था, क्याकि तब लोगों को यही लगना होगा कि खालीपन दूर होगा और देश रगारग बनगा । देश का नवशा छाटा होत जाने पर हिन्दुओं का अधिक सवदनशील होत जाना निश्चित है, क्याकि उनके पास धर्म के हिसाब मे देश जुटाने का तर्क नहीं है ।

आदमी समय और स्थान मे भस्तृकत है । देश, काल और मनुष्य, ये तीनों एक ही तथ्य के विभिन्न अग हैं । इनम से प्रत्येक को एक-दूसरे के साक्ष्य मे ही दखा जा सकता है । 'जैसा देश, वैसा भेष' कोई सामूली मुहावरा नहीं । यह इस बात की घतावनी देता है कि भप का देश के विरुद्ध होना ठीक नहीं ।

भेष से सिर्फ कपड़-लत्ते और आभूषण ही नहीं, आदमी के अन्य मारे कार्यकलाप भी जुडे हैं । धर्म-कर्म भी । कुछ भी देश-काल की भरहदा मे ही भम्भव है । इसलिय कमीटी धर्म नहीं देश को करना जरूरी होगा । अगर आदमी का धिल देश मे जुडा है, तो इसमे कोई फर्क नहीं पड़ना कि उसका ऊपरी बाना क्या है क्याकि धिल की दगड़ ही भवम

बड़ी दरार होती है। जब, जहा स और जिसके भी द्वारा देश के टुकड़ों की बात उठेगी, उठाई भले ही घन्द राष्ट्रद्वारा ही तत्वों के द्वारा जाय, मगर जड़ें पकड़ेगी लोगों के द्वित में दरार होने पर ही। और अगर यह माग अल्पसंख्यकों के बीच से उठे, तो बहुसंख्यक भी एक-न-एक दिन खुद का ताम-झाम सँभालने पर कमर करेंगे जरूर और तब मुस्लिम राष्ट्रवाद के थपेड़ों को ओझल करके, सिर्फ हिन्दू राष्ट्रवाद पर हाय-तौबा मचाने के दोमुँहेपन से साम्प्रदायिकता की आग दबेगी नहीं, क्योंकि आग को हर तरफ से बुझाना जरूरी है, सिर्फ एक तरफ से नहीं।

“—८०—” “—पिछले तकरारों के मामले में इस बात को भी ध्यान में रखना जरूरी होगा कि हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता की सुगवुगाहट मजहब के हिसाब से मुल्क के मुस्लिम लीगी सिद्धांत के आकार लेने के बाद ही बढ़नी शुरू हुई। ‘खालिस्तान’ की मौग ने इसे और भड़काया। मजहब को मुल्क से ऊपर मानने के इमारी नारे अभी भी बदस्तूर कायम है। कश्मीर में देश को सिर की तरफ से काटे-छाटे जाने की मुहिम घला रखी है। ऐसे में इतना तय है कि मजहब, पंथ या धर्म के नाम पर देश का नवशा छोटा करने के ये सिलसिले जितने बढ़ते जाएंगे, हिन्दू साम्प्रदायिकता भी उतनी ही और बढ़ेगी जरूर, क्योंकि एक-न-एक दिन भारतीय सस्कृति का ठेका सिर्फ हिन्दुओं के सिर पर थोपते घलने के इस सिलसिले का राजनैतिक तर्क भी सवालों के घेरे में आयेगा जरूर।

इन सारी बातों का नियोड यह कदापि नहीं कि हिन्दू साम्प्रदायिकता देश की जरूरत है। जैसा कि पहले ही कहा, हिन्दू साम्प्रदायिकता का राष्ट्र की जगह कौम की सकीर्ण अवधारणाओं की ओर बढ़ाव भारत की सामाजिक सस्कृति के लिये खतरनाक ही सिद्ध हो सकता है और इस प्रकार पूर्वजों की शताब्दियों-सहस्राब्दियों की कमाई मिट्टी में मिलते देर नहीं लगानी। लेकिन अगर देश के धार्मिक आधारों पर विभाजन की प्रवृत्तियों पर प्रभावी तथा दूरगामी अकुश नहीं लगाया गया, तो ‘हिन्दू राष्ट्र’ की स्थापना के दु स्वप्न को भी टालना कठिन ही होगा, और अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता को नैतिक आधार देने की सारी खुशफहमियों का अपरिहार्य प्रतिफलन अतत बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता की जड़ों को मजबूत करने में ही होगा, क्योंकि किसी भी कार्य की नैतिकता या अनैतिकता का निर्धारण संख्या के हिसाब से नहीं किया जा सकता।

साम्प्रदायिकता अपने-आप में ही एक जहर है और यह अगर एक में हो, तो अनेकों तक फैलेगा जरूर। इसलिये जरूरत साम्प्रदायिकता की घौतरफा रोक-थाम की होगी। विपद्धारा को उद्गम से लेकर मुहानों तक देखना और साम्प्रदायिकताविरोधी जुलूसों का रुख, कहीं और की जगह सीधे उस राज्यव्यवस्था की ओर करना होगा, जो खुद के पापों का घडा दूसरों के सिर पर फोड़ने की कूटनीति खेलती चली आ रही है। अगर साम्प्रदायिकताविरोधी सगठन यह काम नहीं करते हैं, तो जाहिर है कि ये लोगों का ध्यान राज्य के साम्प्रदायिक चरित्र की ओर ये हटाने का काम ही कर रहे होंगे।

जैसा कि पहले भी कहा, साम्प्रदायिकता के मामले में भारत सरकार और तथाकथित

साम्राज्यिकताविरोधी सम्मेलना का रुख एक होना यो ही टाल देने की बात नहीं, क्योंकि साम्राज्यिकता के मूल आधारों पर छोट करने से बचने की यह मिलीभगत ही हिन्दू साम्राज्यिकता के मुहानों को भी छौड़ा कर रही है।

रामजन्मभूमि का मसला कोई ऐसा मसला नहीं था, जिसे कि मुसलमानों के अस्तित्व का सवाल बना दिया जाय। मुसलमानों का बाबर से ठीक वही सम्बन्ध नहीं, जो कि हिन्दुओं का राम से है। राम की परिधिर्याँ हिन्दू मानस से महाकाव्यात्मक स्मृति और स्वेदना के छोरों तक जुड़ी हुई हैं और सामाजिक साक्षेदारी का तर्क यही बनता है कि कहा किसका सम्बन्ध कितनी दूर तक गया है।

बाबरी मस्जिद हजरत मुहम्मद साहब की दरगाह हुई होती, या मक्का-मदीना-काबा, तो कहा जा सकता था कि मामला बराबरी का है। अगर देश में हिन्दू-मुस्लिम साक्ष को केन्द्र में रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि यह मुसलमानों के पक्ष से हुई बहुत बड़ी ऐतिहासिक गलती है, जो कि बाबरी मस्जिद को मुस्लिम और इस्लाम के अस्तित्व का सवाल बना लिया गया। इससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि हिन्दुओं की आस्था और स्वेदना के सवालों से मुसलमानों का कुछ लेना-देना नहीं। उन्हें शक्ति-प्रदर्शन ज्यादा जरूरी है।

इस तर्क में क्या रखा है कि अगर मुसलमान रामजन्मभूमि, कृष्णजन्मभूमि या काशी विश्वनाथ मन्दिर के मामलों में छुक गये, तो हिन्दू उन पर हमेशा के लिये हावी हो जाएंगे, क्योंकि अगर हिन्दुओं में हावी हो सकने की शक्ति हो, तो ये इन मन्दिरों की आड लेकर भी हावी होंगे जरूर। जबकि एक-दूसरे के आस्था-विश्वासों की साक्षेदारी में हाथ बंटाना चूकना या अपना हक गँवाना नहीं, बल्कि आगे अपने लिये भी जर्मीन तैयार करना होता है। अगर इन तीन स्थानों पर मुसलमानों की पहल को हिन्दू मुसलमानों के डर गये होने का सबूत मानें, तो हिन्दुओं से ज्यादा भूखी और मक्कार कौन होगा ?

कदाचित मुसलमानों की ओर से यह पहल हो गई होती, तो हिन्दू कट्टरपथियों के हाथ-पाँव फूल गये होते, क्योंकि तब उनके हाथों से न सिर्फ व्यापक हिन्दू समाज की भावनाओं को भड़काने का आधार पूरी तरह खिसक जाता, बल्कि अन्यत्र कही किसी मन्दिर-मस्जिद को फिर खुद के निहित स्वार्थों का केन्द्र बनाने के सारे रास्ते ही बन्द हो जाते। हिन्दू-मुस्लिम एके के सामने ठहरने की शक्ति, आज भी, न हिन्दू साम्राज्यिक संगठनों में हो सकती है और न ही मुस्लिम कट्टरपथियों में। कहने का तात्पर्य कि हिन्दू-मुस्लिम के रास्तों पर खड़ी की जा रही सारी दीवारों को हिन्दू-मुस्लिम साक्ष से तोड़ना जरूरी है और यह साक्षा सम्भव होगा, एक-दूसरे के लिये जगह देने की समझदारी में से ही- जड़ इतिहासवाद की राजनैतिक दलीलों से नहीं।

हिन्दू साम्राज्यिकता का पार्टी के इगितों के अनुसार विरोध करने में जुटे अनेक हिन्दू बुद्धिजीवियों का राम, अयोध्या या राम मन्दिर का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं हाने में खुद की प्रतिभा खपाने का भी कोई सकारात्मक परिणाम कर्त्तई नहीं निकलना, क्याकि एक तो

इतिहास परम्परा से ज्यादा प्रामाणिक कभी नहीं होता- दूसरे, ऐतिहासिक साक्ष्य तो खुदा के होने का भी कोई नहीं ।

दरील अगर एकत्रफा हो, तो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ना कि इतिहास से दी गई है, क्योंकि बड़ी धीर इरादा हुआ करता है, इतिहास नहीं । इरादा अगर हिन्दुओं पर यह आरोप लगाने का हो कि वो इतिहास की गवाही से शून्य अधिविश्वास के तहत रामनाम का शूठा खेल खेलते थे आये हैं और आज इस खेल ने 'हिन्दू फासिज्म' की शक्ति अखिलयार कर ली है, तो जाहिर है कि यह इरादा ऐतिहासिक थाहे जितना हो, ईमानदारी का सबूत कर्ताई नहीं, क्योंकि इतिहास ने कब कह दिया कि वह सिर्फ हिन्दुओं पर ही लागू होगा ?

दुर्गापूजा के महोत्सवों में मार्क्सवाद की जड़ें तलाशने वाले वामपथी बुद्धिजीवियों का सारा इतिहासवाद इसीलिये छूठ है कि ये इतिहास को पार्टी की 'गाइड लाइन' के हिसाब से इस्तेमाल करने में प्रतिभा खपाने के अन्यासी हैं । अगर ये धर्म-मात्र का विरोध करते, तब इनके इतिहासवाद से असहमत हुआ जा सकता था, लेकिन इरादे पर सन्देह की गुजाइश नहीं होती । लेकिन जाहिर है कि राममन्दिर की आड में हिन्दूपुनरुत्थानवाद को आकार दिये जा रहे होने की इनकी शिकायत में कोई दम नहीं, क्योंकि ये इतिहास को मानव समाज की स्मृति और सवेदना के विपरीत इस्तेमाल करने की राजनीति को पुछता करना चाहते हैं । ये भूल जाते हैं कि समाज के सुलगते सवाल जड़ इतिहासवाद के नुम्बों से हल नहीं हुआ करते हैं ।

जहाँ दूसरों की जरूरत और हक ज्यादा हो, वहाँ अपनी ओर से अडगा हर्गिज नहीं डालना- सिवा इसके हिन्दू-मुस्लिम एके का कोई रास्ता नहीं । इतिहासवाद का समाज के सवेदनों के निषेध में इस्तेमाल करनवाले बुद्धिजीवियों की, इसीलिये, कोई प्रासारिक भूमिका कभी नहीं बन पाती । इस तरह के जड़-इतिहासवाद का दूसरी तरफ भी कोई अकाल नहीं, जो जामा भस्त्र-कुपुर्वीनार तो क्या, मक्का-मदीना में भी हिन्दू ध्वंसावशेषों को दूढ़ निकालते देर नहीं लगाएगे, क्योंकि सामाजिकता के आधारभूत सवालों के मामले में इनकी हैसियत भी किताबी कीड़ों से ज्यादा कुछ नहीं । लेकिन कट्टरपथी हिन्दुओं की धार्मिक लाम्बान्दी को हिन्दू पुनरुत्थानवाद की श्रेणी में रखने का उन्हें कोई हक नहीं, जो अपनी-अपनी राजनीतिक पार्टियों के लिये मुस्लिम जनाधार की खोज में व्याकुल भटक रहे हों, क्योंकि यह बात अब किताब के खुले पन्ने की तरह सामने है कि अल्पसंख्यकों को खुद का वोट बैंक बनाने की खतरनाक राजनीति ने ही बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता के तार मजबूत किये हैं ।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि हिन्दू-मुसलमान के मेल पर ही भारत का भविष्य टिका है और कोई कारण नहीं कि जो पहले हजार वर्षों तक साथ निभा चुके, वो आगे ऐसा नहीं कर सकते । जरूरत धर्म-जाति-वर्ण के हिसाब से खुद की कुर्सियों के पायों को पुछता करने की उस कुटिल राजनीति का सवालों के घेरे में करने की है, जो साम्प्रदायिक

फूट-फूटब्ल की आड में सन्ता के छोड़े खोजने वालों को बढ़ावा देती चल रही है। इसकी जगह हिन्दू साम्राज्यिकता के विरोध में जुलूस निकालने में ज्यादा दिलगाप्पी दिखाना हिन्दू और मुसलमान, दोनों में तकरार बनाये रखने की मुहिम चलाना ही है, क्योंकि आज हिन्दू साम्राज्यिक शक्तियों का रक्खा भी काफी बढ़ चुका है और उनका सामना हिन्दू-विरोध के तर्क से करना ठीक नहीं।

कुछ भी करते में बहुत गहरे ध्यान से यह देखते चलना जरूरी है कि परिणाम क्या निकल रहा है। अगर साम्राज्यिकताविरोधी सगठनों की भौजूदा मुहिमों से मिल और मुसलमानों के बीच की दरारों को पाटने में सफलता मिल रही हो, तो कहना होगा, यह सिलसिला जितना आगे बढ़े, उतना अच्छा। लेकिन अगर इससे हिन्दू साम्राज्यिक शक्तियों को खुराक पहुँच रही हो, तो दखना जरूरी होगा कि ऐसा क्या हो रहा है, क्योंकि साम्राज्यिकताविरोध की मुहिम को एकत्रफ तो हिन्दू जाति, धर्म, परम्परा, सरकृति और आस्था-विश्वासों के तिरस्कार की हड तक बढ़ाते चले जाना और दूसरी तरफ हस्ताम की बुर्जियों की तरफ आख उठाने से भी परहेज बरतना, इस नक्के से कि अल्पमंज्यकां का वित्त वैसे ही बहुत नाजुक हुआ करता है, यह सरारार एक दूसरा है और जैसा कि पहले भी कहा, एकत्रफापन उपाय नहीं।

क्षमा करें, डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल। उनके राम में रहीम नदारद हैं और बिना रहीम का राम हिन्दू-मुसलमान के बीच की दरारे दूर नहीं कर सकता।

ऐसे में कहने की इजाजत रहे कि 'कण-कण में व्यापे हैं राम, मत भड़काओ दगा लेकर उनका नाम' -जैसे दलगत कवित्त के द्वारा राम के नाम पर दगा नहीं भड़काने का हिदायतनामा, हरहाल मे, दगों में हिन्दुओं की पहल हाने के इलजाम की कहानी सुनाता ही दिखाई पड़ेगा, राम की व्याप्ति की नहीं। न ही जन-जन की रामकहानी, क्योंकि कवित्त से समस्या हल करना अलग बात है और समस्या को तुरें लगाना बिलकुल दूसरी बात।

काश कि साम्राज्यिकताविरोध मुहिमे चलाने वाले तथाकथित प्रगतिवादी बुद्धिजीवियों ने देश में सम्प्रदायनिरपेक्ष सविधान लागू किये जाने की माग उठाई होती। हिन्दू-मुसलमान को एक तार में करने वाले सामाजिक स्रोतों की बहस खड़ी की होती। जाहिर है कि साम्राज्यिकताविरोध की आड मे साम्राज्यिकता की पीठ थपथपाने में ही खुद के फायदे देखने के अन्यासी बुद्धिजीवियों की हिन्दू-मुसलमान एकता में कोई दिलघस्पी नहीं।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद

अभी हाल में बदर के द्वारा बिल्लियों के झगडे में मध्यस्थता की तर्ज पर भारत सरकार ने यह पेशकश की कि राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के विवाद पर वह अपना पर्यफेसला प्रस्तुत करने को तैयार है। जाहिर है कि इस नेक काम के लिये हिन्दू-सिख समस्या के विशेषज्ञ केंद्रीय गृहमंत्री बूटा सिंह जी ही आगे रखे गये, लेकिन अफसोस कि बाबरी मस्जिद कमेटी और राम जन्मभूमि मुक्ति समिति- जैसी साप्रदायिक शक्तियों के साथ थोड़ी-बहुत 'पर्यलैट' घुमाने के बाद, फिलहाल उन्होंने भी मामला न्यायिक प्रक्रिया से निबटाये जाने की बात कहकर, अपना साफा छाड़ लिया।

राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के मामले में जरूरी होगा कि इसे सतही या शिगूफेबाजी के तौर पर न लिया जाय। इतना ध्यान पहले ही रहे कि इसके तार हिन्दू-मुस्लिम शक्ति-प्रदर्शन के मुकाम तक पहुंचाये जा चुके हैं। हा, इतना जरूर है कि अभी यह शक्ति-प्रदर्शन बदरघुड़कियों और राजनीतिक-साप्रदायिक सौदेबाजियों तक ही सीमित है। माना कि अभी यह मजहबी शतरज केंद्र सरकार पर दबाव डालकर, अपनी-अपनी कीमत लगवाने के मुरीदों के बीच का खेल है, लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस तरह के जहरबाद ही आखिर देश और संस्कृति के विभाजन का कारण बनते हैं। अपनी-अपनी सियासी गोटे पक्की करने की ये खतरनाक चालबाजिया देश की सामान्य जनता के सोच-विचार और स्वेदन की दुनिया में धीमे जहर की तरह प्रदूषण उत्पन्न करती जाती हैं और इनका अन्त एक ऐसे विस्फोट में जा कर होता है, जो अगले विद्वस के बीज बोता उपस्थित हुआ करता है।

पाकिस्तान इसकी मिसाल है।

पाकिस्तान से हिन्दू-मुसलमान के बीच के मर्कट-सग्रामों का अत नहीं हुआ, तो इसीलिये कि उपजाये गये महारोग के निदान नहीं, बल्कि इसकी बिना पर देश और

सस्कृति के बदरबाट के इरादे काम कर रहे थे। राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद के मामले में यह सावधानी पहले ही जरूरी होगी कि इसे हिंदू-मुस्लिम साप्रदायिक शक्तियों के हवाले नहीं छोड़ा जाए। यह काम एक लोकतात्रिक व्यवस्था में केंद्र सरकार के द्वारा किया जा सकता था, बशर्ते उसका घरित्र स्वयं साप्रदायिक नहीं हो। यह देश का दुर्भाग्य कि आज के सारे राजनीतिक दलों की नीव साप्रदायिक शक्ति-समीकरण पर टिकी है। इस मामले में केंद्र सरकार-द्वारा विपक्षी दलों के आहवान के पीछे यह कुटिल नीति ही छिपी है कि जैसे हम नागनाथ, तैसे तुम सापनाथ।' यानी दोनों को ही अपनी अपनी राजनीति के टिक्कड़ एक ही आद्य में सकने हैं।

तथा है कि मौजूदा राजनीतिक दलों के द्वारा इस समस्या के निदान की काई पहल कभी नहीं की जायेगी, क्योंकि साप्रदायिक नाराजगी का जोखिम कोई नहीं भोल लेना चाहेगा। इनमें से एक में भी सच्चाई नहीं। न ही घरित्र नाम की कोई वस्तु है। इनके लिये राष्ट्र, समाज और सस्कृति से बड़ी घीज सत्ता है, जो लूट सके, तो लूट के घोर-दरवाजे खोलती है। दूसरे, जातीय सौमनस्य और एकात्मकता का मतलब होगा, सारे देश में सामाजिकजागृति, जा देशी-विदेशी औपनिवेशिक शक्तियों के बीच के गठबंधन को ध्वस्त कर देगी। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि राजनीतिक साम्राज्यवाद और औद्योगिक एकाधिपत्यवाद, एक ही सिक्के के दो पहलू हुआ करते हैं और साम्राज्यवाद के चारों पाये टिके होते हैं, सामान्य जनता के बीच की जड़ता, साप्रदायिक धृणा (जो भय का ही दूसरा नाम है) और सास्कृतिक उजाड़ पर। भारत में ये तीनों स्थितिया बाकायदे और भरपूर विद्यमान हैं और इनके कायम रहते राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद मामले का कोई सकारात्मक हल असम्भव है।

धू-धू पजाब की हा या राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद की- साप्रदायिक नरकारियों के सूत्रधार वे पूजीनिवेशी और सियासी नेता हैं, जिन्होंने 'फूट डाला और गज करा' का नुस्खा ब्रिटिश हुक्मामों से विगसत में प्राप्त किया। इसलिये इस तरह के किसी भा राष्ट्रीय सकट के समाधान की इनसे आशा करना सिर्फ खुद की मुर्खता और जड़ता का परिचय देना होगा। जिनका अस्तित्व ही जनता के आपसी मत्थाफोड़ और घेतना-उजाड़ पर टिका हो, उनसे यह उम्मीद ठीक नहीं कि ये राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद मामले में सच्चाई, सवेदना और राष्ट्रहित की दृष्टि से विचार करेंगे। हम नहीं जानते, लेकिन ये बिल्कुल समझे हुए हैं कि राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद का मसला देश के दो सबसे बड़े सप्रदायों के बीच के शक्ति-सतुलन का मसला है। यह भी कि इसे कोई सकारात्मक भाड़ लेने देने का मतलब देश में साप्रदायिक-धार्मिक समरसता को बढ़ावा देना होगा, जो कि अतत फिर स्वाधीनता-संग्राम के दौर के उस सामाजिक-राजनीतिक पुनर्जागरण के रास्ते खोलेगा, जो बीच में ही तोड़ दिये जाने के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य के इडों को तो उखाड़ ही गया।

भारत का स्वाधीनता संग्राम कोई सामान्य संग्राम नहीं रहा है। वह भाषा, जाति और सस्कृति के धरतल पर एकमुख होते राष्ट्र-समाज की एक ऐसी तस्वीर सामने रखता है,

जिसे अगर मुमलिम लीगी तथा काग्येसी नेताओं के गठजोड़ ने दोफाड़ नहीं कर दिया होता, तो आज भारत की तस्वीर ही कुछ और होती। तब हम ज्ञान-विज्ञान ही नहीं, राजनीति तक मैं इंग्लैंड, अमेरिका, रस्स वैगैरह के मोहताज न हो कर, एक ऐसे स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत रखत, जिनसे दूसरा का सीखना होता कि बड़ी वस्तु धर्म नहीं, आदमी है। और कि एक मुल्क ऐसा भी है, जहा अनेक बार धर्म आदमी और आदमी के बीच में जहर बोने का हथियार नहीं, बल्कि सस्कृति के अनन्य सेतु रथ देने की कला का रूप ले चुका है।

हम जार देकर कहना चाहेंगे कि राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद के मामले को हिंदू धर्म या इस्लाम नहीं, बल्कि सस्कृति के तर्क से देखे जाने की जरूरत है। मौजूदा किसी राजनीतिक दल के पास कोई सारकृतिक दृष्टि कर्त्त्व नहीं है। ये धर्म और मजहब की खाज को काढ मैं बदलने का ध्या करनेवाले सियासी सौदागरों की जमात है। इनमे सस्कृति की घेतना खोजना भेडियों की नाभि मे कस्तुरी तलाशते फिरने के सिवा और कुछ नहीं। इनकी रुचि राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद दुद को बरकरार रखने मे ही हो सकती है। इनमे से किसी में इतनी ताब नहीं कि या तो कोई हल बताये और या साफ कह दे कि फैसला इनके देश की बात नहीं।

कोई भी मामला ऐसा नहीं, जो कानूनी मामला नहीं हो, जिम्मेदार शासन की यह पहली शर्त है कि इसमे जारे मामलों को कानून से निबटाने की क्षमता होनी चाहिए, लेकिन भारत सरकार निबटाना भी चाहे, तो ऐसे तमाम मामलों को किन कानूनों के तहत निबटाये, जबकि उसका सारा सवैधानिक ढाया ही नाना प्रकार के जातिवादी, साम्राज्यिक तथा धार्मिक कानूनों पर टिका है और न्यायपालिका का चरित्र भी, अन्य प्रशासनिक संगठनों की ही भाँति, भ्रष्ट हो चुका है।

इतिहास मे कई बार ऐसे मोड भी आते हैं, जब स्थितिया कानून की हडो से बाहर निकल चुकी होती है और तब वहा एक ही तर्क से कोई सकारात्मक परिणाम निकाला जा सकता है- नैसर्गिक न्याय के तर्क से- जिसे हम, प्रकारातर से, सामाजिक न्याय भी कह सकते हैं, जो कि समाजविरोधी राज्य व्यवस्था की कानूनी हडो के भीतर समव नहीं।

देश काल और समाज की अत सगति का ही दूसरा नाम 'सस्कृति' है। किसी देश, काल और समाज की अत सगति के विपरीत जाना ही सस्कृति का विस्पृण या अतिक्रमण। भारतीय सस्कृति का सार है, पृथ्वी और मनुष्य के राग-अनुराग को सबसे ऊपर मानना। आदमी को प्रत्येक वस्तु से ऊपर मानने मे धर्म का आडे आना ही भारतीय सस्कृति का विखड़न है। धर्म ही नहीं, इतिहास के दुराग्रह भी सस्कृति की क्षति करते हैं।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद का मौजूदा मामला गडे मुर्दे को उखाडने का मामला कहा जा सकता था। चूंकि इसके साथ हिंदू-मुस्लिम शक्ति-परीक्षण की मुहिम नत्थी कर दी जा चुकी है इसलिये, तमाशबीनों को यहाँ सासत के सिवा कुछ नहीं मिलना। इस कठिन भूमि में तो सिर्फ उन्हीं के चरण कुछ दूर तक जा सकेंगे, जो मनुष्य और समाज के सवेदनों के सास्कृतिक स्रोत खोज निकालने मे समर्थ हों। जो आदमी को बताने

मेरे समर्थ हो, कि साप्रदायिकता की आग नरक की आग से कम खतरनाक नहीं। लेकिन सामने का परिदृश्य क्या है? कौन और किस तरह के लोग लगे पड़ हैं, राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मामला सुलझाने मे?

ये जो 'दोनों तरफ है आग बराबर आग लगी हुई' के मुरीद राजनीतिक-धार्मिक आगसार हैं, इनका काम आग लगाना और उसे कायम रखना है और इसीलिये ये सबसे आगे पहले खुद पहुँच जाते हैं, ताकि भेड़ों की हाक हाथ रहे। कोई बतानेवाला न रहे कि भेड़ियों की भेड़ों की रहनुमाई ठीक नहीं। क्या, वजह है कि ऐसे लोगों को इस मामले पर विचार के लिये आगे बुलाने की भारत सरकार ने कोई जरूरत ही नहीं समझी, आज तक, जो मजहब या राजनीति की जगह, सस्कृति की जमीन पर खड़े होकर बात कर सके। जिनके कि हिंदू या मुसलिम साप्रदायिकता के साथ कोई निहित स्वार्थ न जुड़े हो। जिनके विचारों से मतभेद हो सकता हो, लेकिन नीयत सदेह से ऊपर।

कारण हम जानते हैं। कारण है यह कि सरकार से ऊपर कोई नहीं है। यानि जिस मामले को सुलझाना जरूरी होगा, हम सुलझायेगे, क्योंकि हमारे पास बहुमत की शास्त्र-प्रणाली का रूपका मौजूद है, और यह दावा कि देश के धर्म, अर्थ, राजनीतिक, कानून या शिक्षा के मामले मे जो भी सर्वोच्च पात्र हो सकते थे, वे सब हमारे दरबार में मौजूद हैं। हमारी समझ ही सबसे सही समझ का उच्चतम प्रतिमान है। हमारा नेता सर्वप्रभुत्वसम्पन्न महामहिम है और राजनीति ही नहीं, बल्कि धर्म, शिक्षा, सस्कृति, साहित्य, कला, न्याय-कानून तथा इतिहास-भूगोल-खगोल आदि ज्ञान-विज्ञान के सारे अग इसी सर्वप्रभुत्व के आधीन हैं।

राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का सारा झगड़ा इसी सप्रभुतावाद की आड़ में खड़ा है और जब तक देश मे सास्कृतिक चेतना का अकाल मौजूद रहेगा, तब तक राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद का मजहबी मर्केट-संग्राम भी मौजूद रहगा जरूर। क्या अकारण है कि प्रातीय से लेकर केद्रीय सरकार तक, साथ में तथाकथित विपक्षी मोर्चे के भी- इस मामले मे सबके मुँह मे समान मात्रा मे दही जमा है कि क्या होना चाहिये आखिर? राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद मे से किसे जस-का-तस रखा और किसे जमीन मे बिछा दिया, या और ऊद्धा कर दिया जाना चाहिये? आखिर तो कुछ-न-कुछ फैसला लेना ही होगा? कहा जा सकता है कि जन्मभूमि तो पहले से ही बिछी या कि बिछायी हुई है, लेकिन नक्शा तो अगर हवा मे भी हो, तो होगा बाकायदे विद्यमान।

आइए, देखें कि इस अत्यत ही गमीर महत्व के नाजुक सवाल पर किन्हीं ऐसे लोगों ने भी कुछ सोच-विचार किया, है या नहीं, जिनके प्रस्तुति मे कहा गया कि सस्कृति की समझ रखनेवाले लोग। फिलहाल हम यहा भाई मासूम रजा की इस पेशकश पर विचार करे कि दोनों का ढहाकर, केद्र की धर्मनिरपेक्ष सरकार, इस जमीन पर 'राम-बाबरी पार्क' बना दे और हिंदू-मुग्न्मण-मिख-इराई आदि सबके बच्चे एक साथ इस पार्क मे खेले-कूदे और रग-बिरगी चिड़िया की तरह चहचहायें।

इसमें क्या शक कि पेशकश, पहली नजर में, सिर्फ धर्मनिरपेक्ष ही नहीं, बल्कि इतनी ही मासूम भी है, लेकिन ऐसी और इतनी मासूमियत भी क्या, जो भूत को हजामत बनाकर घर में बनाये रखने की नादानी तक जा पहुँचे ?

काल भी भूत बन जाया करता है, अगर कि काल से मनुष्य के सबध की समझ नदारद हो जाय। राहीं साहब को कौनतौन समझाये कि जिनका काल एक नहीं, उन्हें एक ही अर्थ में लेना समझदार होने की निशानी नहीं। राम और बाबर का काल एक नहीं। न धर्मात्र, न अवधारणा, न लक्षण। इसलिये एक बार को राम जन्मभूमि के अस्तित्व को नकार कर, सारे विवादग्रस्त परिसर में, सिर्फ बाबरी मस्जिद ही कायम रखे जाने का रुझाव तो समझ में आनेवाला भी हो सकता है, क्योंकि तब यह सिर्फ गलत या सही दावेदारी का मामला ही बनेगा लेकिन राम-बाबरी पार्क, राम-बाबरी लाइब्रेरी, राम-बाबरी नर्परी अथवा राम-बाबरी विद्यापीठ का मतलब हर हाल में सिर्फ एक ही हो सकता है- हिंदू-मुसलमान के धार्मिक भवेदनों को जब चाहें, तब साप्रदायिक दगों के मुकाम तक पहुंचा सकने के चोर-दरवाजे कायम रखना।

आज की हकीकत क्या है ? और क्या यह डा राही मासूम रजा की पेशकश से कुछ दीर्घ है ? आधे म राम और आधे मे बाबर- इन्हे जैसे राम-बाबरी पार्क मे मौजूद रहना होगा, तैसे ही तो आज भी उपस्थित हैं ? और इस उपस्थिति को दोनों घड़ों के मजहबी ठकेदारों और उनकी सरपरस्त सरकार के द्वारा एक म्यान में की दो तलवारों की हैसियत दी जा दी गई है, तो इससे क्या फर्क पड़ना है कि म्यान (यानी स्थान !) का नाम राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद रहे, या कि राम-बाबरी पार्क ? रजा बतायेगे कि राम-बाबरी पार्क की हकीकत राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद की तुलना में कितनी धर्मनिरपेक्ष हो सकती ?

बहस, या कहें कि बात, चलाने के लिये राही मासूम रजा साहब को चुनने की पहल इसलिये भी की गयी है कि एक तो रजा सुपात्र हैं, उनके विद्यारों से हम सहमत या असहमत हो सकते हैं, लेकिन यह नहीं कह सकते कि उन्हें सस्कृति की समझ नहीं। जो गगा-जमुनी सस्कृति के नाम से जानी जाती है, उसकी सबसे खरी और शोहक तस्वीर उन गौवों या कर्खों में मिलेगी, जहा हिंदू और मुसलमान एक ही जमीन की दो औलादों की हैसियत का जीवन जीते आज भी दिखाई पड़ते जायेगे। राही का दूध में दूध के मेल-मिलाप की सी इस हिंदू-मुसलमान साझेदारी से बहुत नजदीक का परिचय रहा है। यहा मल-मिलाप, प्यार-मुहब्बत ही नहीं, जमीन-जायदाद, लेन-देन, बात-व्यवहार के हजार छागडे हैं, भयकर सिरफोड भी रहा है, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच, लेकिन यह हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच का मत्थाफोड नहीं रहा।

दूसरे, यूंकि इस तरह की पेशकशें, रजा के साथ-साथ, अन्य बहुत- से सथानों की भी है कि सरकार यों करे, या त्या करे, रजा साहब ने भी हमारी स्वनाम्यद्यन्य धर्मनिरपेक्ष भारत सरकार को ही जिम्मा सौंपना जरूरी ममझा कि वह राम जन्मभूमि मदिर बनाम बाबरी मस्जिद मामले को राम-बाबरी-पार्क बनाकर सुलझा डाले। इमलिये कहना

जरूरी जान पड़ता है कि ये पेशकशें सस्कृति के विरुद्ध हैं। सस्कृति का मतलब समाज का पर्याप्त-फैसला होता है, हुक्मत की बदरबाँट नहीं। रजा भी अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी धर्मनिरपेक्ष सरकार इस सवाल को जब भी निपटाये, हिंदू वोट और मुसलमान वोट के गुण-भाग या स्वय के शुभ-लाभ के हिसाब से ही निबटायेगी। नहीं तो, जहा का तहा बना रखना चाहेगी। अचानक कोई इन्टका खाए और हाथों के तोते उड़ जायें, यह बात दीगर है, जैसे कि पजाब मे। इसलिये धार्मिक मामलों मे भी सरकार को ही अतिम निर्णायिक शक्ति का दर्जा देने मे इस खतरे का ध्यान जरूरी होगा कि हक्मत का स्वर्ण मंदिर का मामला निपटाये अभी ज्यादा बक्त नहीं बीता है। अफसोस कि रजा ने ध्यान नहीं रखा। जैसा कि पहले भी कहा, राम जन्मभूमि मंदिर बनाम बाबरी भस्त्रजिद मामले को बहुत ध्यान से, और बहुत गहरे जा कर देखना जरूरी है, यह दरअसल हिंदू-मुसलिम एकता या हिंदू-मुसलिम दोफाड का सवाल है।

सिख-हिंदू मामले का सरकारी निबटारा हम देख चुके हैं। गनीमत कहिये कि इसी हादसे और छीछालेदर के कारण अभी सरकार के शिक्षकों कुछ ढीले पड़े हैं। वह समय निकालना चाहती है, ताकि तब तक मे लोगों की स्मृति मे से उसके सिख-हिंदू निबटारे के खून के धब्बे कुछ धूमिल पड़ जायें। लेकिन मेरठ मे एक छोटी-सी झालकी मिल चुकी है, इसलिये अगर राम जन्मभूमि बनाम बाबरी भस्त्रजिद के हश्च को स्वर्णमन्दिर से नहीं जोड़ना है, तो सावधानी जरूरी होगी कि हिंदू-मुसलिम दोफाड के इस सुलगते सवाल को सस्कृति के तर्क से सुलझाया जाय, वोट की राजनीति के हिसाब से नहीं।

हिंदू-मुसलमान एके का सवाल इस महादेश के दो सबसे बड़े बाशिदों के एके का सवाल है और अगर हम सस्कृति के तर्क से इस एके को अटूट कर दिखाते हैं, तो यह दुनिया-भर के उन देशों को एक बेमिसाल मिसाल होगी, जहा एक ही धर्म की अलग-अलग शाखाओं के बीच भी धर्म लडाई का सबसे बड़ा औजार रह चुका है।

आइए, देखे कि सस्कृति का यह तर्क क्या है।

अब यहा हम पहले ही ज्वीकार कर लेना चाहेंगे कि डॉ राही मासूम रजा- जैसे धार्मिक कठमुल्लेपन से बरी लोग मुसलमानों मे ही क्यों, शायद, हिंदुओं मे भी आसानी से नहीं ढूढ़े जा सकेंगे। डॉ रजा बात दरअसल भारतीय सस्कृति के उग्री औदात्य की करना चाहते रहे हैं, जो आरती के दिये से सजी मेहगबो वाली कुतुबशाही भस्त्रजिद और मुसलमान के नादेश्वरम् की आवाज पर ही आख उधाड़ने वाले त्रिपुरबाना जी को सम्बव करता है। जो उर्दू मे रघुपति सहाय फिराक और हिंदी मे खुसरो, जायसी, कबीर, रहीम, रसखान के घमत्कार घटित कर दिखाती रही है। जिसमे दाराशिकाह, आचाय जगन्नाथ से सस्कृत सीखता हुआ, प्रभुमुद्रा धारण करता है और मिर्जा सालबेग भगवान जगन्नाथ की आरती उतारते हैं और पीर-फकीरों की दण्डाहों की दहरियों की धूल बड़े-बड़े पाडितों की माथे का तिलक-घटन उतार लेती है। डॉ रजा इस तथ्य से भी बेखबर नहीं कि जाति

नहीं, गुण और धर्म नहीं, बल्कि आधरण से तौलना ही भारतीय सस्कृति की शर्त रही है। विकृतियों का इस देश में अकाल नहीं, लेकिन जब स्मृति और ज्ञान के मूल उत्सों की बात की जायेगी, तब सिर्फ सस्कृति की बात ऊपर रखी जायेगी, ताकि हम देख सकें कि सारे साप्रदायिक जहरबादों की काट कहा है। लेकिन जहर के काट की उतावली में खुद दूसरे की उगली काट खाना ठीक नहीं। राम-बाबरी पार्क का नुस्खा इसी बेसब्री और बदसमझी की मिसाल है, लेकिन जरा पहले देखें तो कि रजा साहब ने इस प्रस्तुति में फरमाया क्या है?

रजा साहब की भासूम नसीहतों की कुछ बनागियों इस प्रकार हैं-

- १ जाहिदे- तंगनजर ने मुझे काफिर जाना और काफिर यह समझता है मुसलमान हूँ मैं। मगर मजे की बात यह है कि न मैं काफिर हूँ न मुसलमान मैं तो एक हिंदुस्तानी मुसलमान हूँ और इसके सिवा मेरी कोई और पहचान नहीं है। तो आज आपसे गगा जी यही बेटा बात करना चाहता है, क्योंकि आज मेरा दिल दुखा है। धमकियों-भरे खतों से मुझे डर नहीं लगता, क्योंकि मुझसे पहले भी बहुत-से लोग सच बोलने के जुर्म में मारे जा चुके हैं।
- २ मुझे जो बात परेशान करती है वह यह है कि लोग सिर्फ वही बाते क्यों सुनना चाहते हैं, जिन्हें वे सच मानते हैं। जानते नहीं, मानते हैं और जानने की कोशिश ही नहीं करते। मैं सचमुच यह जानना चाहता हूँ कि अगर आपको लाखों लाख मंदिर और मस्जिद बनवाने का अधिकार है, कि अगर आपको बौद्ध मंदिर गिरा कर, हिंदू मंदिर बनाने का अधिकार है, कि अगर आपको हिंदू मंदिर ढाकर मस्जिद बनाने का अधिकार है, कि अगर आपको पजाब की मसजिदों का मंदिर या गुरुद्वारे बना लेने का अधिकार है, तो मुझे यह कहने का अधिकार क्यों नहीं है कि एक ऐसे मंदिर और एक ऐसी मस्जिद को ढा दिया जाये, जो हमारे नागरिक और सामाजिक जीवन में आग लग जाने का कारण बन सकती है ?
- ३ सुलतानपुरी ने मुसलमानों को बताया कि मैं बाबरी मस्जिद को गिराने की बात कर रहा हूँ और यह बेनाम आदमी^१ यह कह रहा है कि गम जन्मभूमि का मंदिर गिराने की बात कर रहा हूँ। जबकि पूर्ण सच यह है कि मैंने दोनों को गिराकर वहां बघ्यों के लिये एक राम-बाबरी पार्क बनाने की बात कही थी। उस सुलतानपुरी मुसलमान और इस शिव सैनिक हिंदू के आधा सच बोलने से यह पता जरूर चलता है कि साप्रदायिकता का काई धर्म नहीं है। वह सेक्युलरिज्म पर हमला करने के लिये कर्मी भी हरे और कसरी का गठजोड़ करवा सकती है।

[‘गगा जून १९८७ से’]

यहा उतावली में, यह सवाल न किया जाये कि जून १९८७ के वक्तव्य को १९८८ के उत्तरार्द्ध में लेने की तुक क्या होगी। जा सवाल शताब्दियों से उलझा पड़ा हो, उसके प्रस्तुति

१- ‘एक कुत्सित गुमनाम पत्र’ का जिक्र रजा साहब ने किया है, जिसमें उन्हे अताडियों में श्रिशूल भोक्त देने की धमकी दी गयी।

मेरे साल-दो साल के बेतुके होने की गुजाइश ही कहा होगी ? यों लिखा उस वक्त भी था, लेकिन 'गगा' मेरे छप नहीं पाया ।

बहरहाल प्रासादिकृता आज भी है, और हमें जवाब मे कहना है कि पहली बात, अगर रजा साहब मुसलमान नहीं, तब हिंदुस्तानी मुसलमान ही कैसे हो जायेंगे ? अमरुद के भी इलाहाबादी या मुरादाबादी होने का सवाल तभी सामने होगा, जब कि पहले वह अमरुद हो । दरअसल, इस बात के जिक्र को हम जोर देकर इसलिये कहना चाहते हैं कि यह सस्कृति के विरुद्ध पड़ने वाली बाते हैं । भारतीय सस्कृति का मतलब ही है कि धर्म या जाति से कुछ फर्क नहीं पड़ना । ठीक वैसे ही, जैसे कि नाना प्रकाश के फलों के होने से बगीचे की शोभा बिगड़ती नहीं, और सवर्णती है । सवाल धर्म, जानि या सार-विचार को मनुष्यविरोधी बना डालने का है । रजा बतायेंगे कि जो मुसलमान ही नहीं, वह हिंदुस्तानी मुसलमान कैसे होगा ? इस तरह की खुदगढ़त सफाइया दाढ़ी में तिनका साबित करता है । रजा अगर 'सिर्फ हिंदुस्तानी हूँ' कहते तो बात अलग होती । हिंदुस्तानी मुसलमान का मतलब मुसलमान नहीं होना कर्तव्य नहीं होता और न मुसलमान होने का मतलब हिंदू से कमतर होना होता है ।

जिसे हम गगा-जमुनी सस्कृति के नाम से जानते हैं, उसका सार ही इसमे है कि गगा के बेटे को जमुना के बेटे से तो क्या, काबा-मदीने का बेटा होने से भी कोई फर्क नहीं पड़ना, अगर कि धरती मजहब से बड़ी चीज हो । गगा-जमुनी सस्कृति देन ही ऐसे लागा की है, जिनकी भाषा, कला, संगीत, साहित्य से लेकर दस्तकारी तक से से बताना असम्भव हो जाय कि हिंदू धर्म की गवाही ज्यादा दे रहे हैं, या इस्लाम की ? लेकिन गम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद के बारे मेरे यही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके पीछे हिंदुओं की जमाते अलग खड़ी हैं और मुसलमानों की अलग और दाना की भाषा दाफ़ाड़ है । दोनों की नीयत में दरार है । दोनों का इरादा गगा-जमुना की तरह एक होने का नहीं, एक दृग्मर पर धौंस जमाना, खुन्नस उतारना और कठमजहबी कुश्ती खेलना है ।

दूसरी बात, धर्म, सस्कृति, देश, काल या समाज के स्वान्त्र इतने आसान नहीं होते कि उन्हें इतनी आसानी से निबटा दिया जाय । हिंदुओं ने कितने बौद्ध विहारों का ढहा कर मंदिर स्थित कर डाले । सिखों ने कितनी मस्जिदों का गुरुद्वारा मेर बदल डाला, या मुसलमानों ने कितने मंदिरों-गुरुद्वारों और बौद्ध-जैन विहार का जर्मादाज करके मस्जिद खड़ी कर ली- इसका बहीखाता खालने पर मामला सुलझाया नहीं और ज्यादा उलझाया है । इससे आखिर रजा साहब का ही तर्क उलटता है, क्याकि अनुपान ठीक वही कहानी नहीं कहगा, जिसे रजा जमुनाना चाह रहे हैं ।

अलबत्ता कहने का हक जरूर है, लेकिन यहाँ भी ध्यान जमुना जरूरी होगा कि हमारे नागरिक-सामाजिक जीवन मे आग लगानवाला वरन्तु बाबरी मर्मजिद या राम जन्मभूमि मंदिर के गारा-पत्थर नहीं, बल्कि धर्म की जर्मनिति खलनाल वा समाजद्राही है जिनकी सवेदना, दृष्टि और समझ सभी पर पत्थर पड़े हैं और -, ८८ नं निट -म मंदिर के

'राम-बाबरी पार्क' में बदल जाने से भी हमारे नागरिक-सामाजिक जीवन को साप्रदायिकता की बर्बर अग्नि से कोई छुटकारा नहीं मिलना, आर कि ये आगलगड़वे सलामत रह जायें। क्या रजा सचमुच इस बात पर ईमान लाना चाहेंगे कि 'राम बाबरी पार्क' का बन जाना 'राम जन्मभूमि, बाबरी मसजिद' के सैकड़ों साल पुराने और अब नासूर की शक्ल ले युके मसले को हमेशा-हमेशा के लिए न सही सिर्फ चद दिनों, महीनों या सालों के लिए ही सही, हल करेगा जरूर ? हम कहना चाहेंगे कि इस खुशफहमी और खामख्याली में कुछ नहीं रखा, क्योंकि यह नुस्खा इल्मी कम, फिल्मी ज्यादा है।

तीसरी बात, अर्द्धसत्य से दीगर खुद रजा साहब ने कुछ नहीं कहा, क्योंकि हिंदुओं द्वारा बौद्ध मठों या सिखों के द्वारा भी मसजिदों को ढहा कर मंदिर-गुरुद्वारा बनाये गये होने के जिस तर्क से उन्होंने बाबर के द्वारा -या बाबर के नाम पर -राम मंदिर ढहा बाबरी मसजिद बनाये गये होने का औचित्य सिद्ध करना चाहा है, उसमें कुछ दम नहीं, क्योंकि राम न बाबर के बाद की पैदाइश है, न सिर्फ कोई ऐतिहासिक राजा । मुसलिम समाज या इस्लाम बाबर पर ठीक वैसे ही नहीं टिके जैसे हिंदू समाज की जातीयता, स्मृति और धर्म या स्वेदन के सवाल राम पर । फिर रजा साहब धर्मनिरपेक्षता पर हमले का खतरा दिखाने में सिर्फ हरे और भगवे के गठजोड़ का ही जिक्र क्यों करना चाहते हैं- सफेद रा को धर्मनिरपेक्षता की 'गारटी' करार देने के लिए ही तो ? जबकि जो सफेद हो, उसी के रा बदलने के खतरे भी ज्यादा होंगे ।

अब यही हम डॉ.रजा की भारतीय सस्कृति में मुसलमानों के हाथ की बात पर कुछ कहेंगे । धर्म अग्रेजों के आगमन से पहले इस अर्थ में भारत की केन्द्रीय वस्तु नहीं रहा कि साप्रदायिकता की आग बन जाये । यहा देश और सस्कृति ऊपर रहे, दूसरे नहीं । आर्य प्रजातिया पृथ्वी की बात ज्यादा करती रही, धर्म की कम । अलबत्ता गगा-जमुनी संस्कृति की जो बात हम करते हैं, वह भारत में (हिंदू-सस्कृति में भी) मुसलमानों ली देन जरूर है ।

हमलावर दोनों रहे, अग्रेज भी मुसलमान भी, लेकिन अग्रेजों के लिए जहाँ यह देश सामाज्यवादी लूटखोट के औपनिवेशिक अड्डे से ज्यादा कुछ नहीं रहा, वही -गोरी, गजनवी, नादिरशाह-प्रभृति लुटेरो की बात छोड़ दे- सभी मुसलमान शासकों के बारे में ठीक यही बात नहीं कही जा सकती ।

गगा-जमुनी सस्कृति के निर्माण में देश और सस्कृति को पहला दरजा देने में ईमान रखनेवाले मुसलमानों की भागीदारी है उन कट्टर मजहबी मुसलमानों का इसमें कोई योगदान नहीं, जो मजहब को देश से ऊपर घोषित करते रहे हैं । अग्रेजों की कूटनीति से हिंदुओं और मुसलमानों में यह कठमुल्लापन बढ़ता गया और आज शाही इमाम, सुलेमान सैत और शहाबुद्दीन-मार्का मुसलमानों के तथाकथित सबसे बड़े रहनुमा 'ऐ हमारी कौम के लोगो-एक सच्चे मुसलमान के लिए मजहब पहले है मुल्क बाद में' की अजान दे-दे कर पूरे देश को फिर मे विभाजन के खतरों में झोकने पर तुल हैं, तो हिंदुओं मे

बालठाकरे-जैसी सस्कृतिशून्य साप्रदायिक शक्ति का उदय सभव हुआ है। और गजब कि मिया शहाबुद्दीन और श्रीमान बालठाकरे- जैसे लोग एक-दूसरे के दुश्मन नहीं, पूरक तत्व हैं। इन दोनों को जरा राक्षसी की छाया और मिल गयी है, काग्रेसी हुक्मत से। सत्ता में 'बंदरबाट' के लिए इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं को सत्ता-समीकरण की निर्धारिक साप्रदायिक ताकतों के तौर पर कायम रखने की मुहिम घलाये रखी है।

इतना हम फिर कहेंगे कि रजा खुद अद्वितीय के रास्ते पर हैं। 'राम-बाबरी पार्क' का उनका फिल्मी नुस्खा और इल्मी सपना भी इसी अद्वितीय की देन है। वे साफ-साफ कहाँ नहीं कहते कि मजहब को मुल्क से बड़ा माननेवालों के लिए इस देश में कोई जगह नहीं हो सकती, नहीं होनी चाहिये, क्योंकि मजहब के नाम पर मुल्क ने 'पाकिस्तान' बनाया। रजा को इस तथ्य से इनकार नहीं होना चाहिए कि पाकिस्तान भी मुसलमानों के ही हाथों की देन है, सिर्फ भारतीय सस्कृति नहीं।

किस मुसलमान की बात करना चाहते हैं, डॉ. रजा ? जो बज-गोकुल गाँव के गवारन ही नहीं, बल्कि 'जो पशु हैं' तो कहा बस मेरा, घरों नित नद की धेनु मधारन, को खुद के मुसलमान होने में कहाँ बाधक नहीं पाता- या उस मुसलमान की, जो बाबर को राम के खुकाबले में खड़ा करके इस्लाम को खतरे से बचा सकने के मजहबी जेहाद का बिगुल बजाता धूम रहा हो ? डॉ रजा बतायेंगे हमें किसी ऐसे त्रिशूली हिंदू का पता-ठिकाना, जो अमीर खुसरो, रहीम, रसखान, जावसी, गालिब, मीर, दाग, जिगर, फैयाज खा, बिस्मिल्ला खां, अमीर खा, अलाउदीन खा, बेगम अख्तर, अशफाक या हमीद की अताडियों में त्रिशूल भोकने की बात करता हो ?

बालठाकरे के 'त्रिशूली हिंदुओं' के सामने खुद की शहादत की पेशकश करने वाले डॉ राही मासूम रजा इस देशद्रोही गंठजोड़ को कूना नहीं चाहते। वे दरअसल, रोग पर हमला न बोल कर, फोड़े का मवाद सानने की घतुर बौद्धिकता से ज्यादा काम लेना चाहते हैं। अन्यथा वो भी मानते भले ही नहीं हों, लेकिन जानते जरूर होंगे कि दो अद्वितीयों को मिलाना पूरे सत्य को रद्दना नहीं, बल्कि और खतरनाक छूट को घलाना होता है।

यह रजा साहब ही नहीं, सारे बौद्धिक जगत की सीमा है कि सामुदायिक या साप्रदायिक नेतृत्व की लगाम हमारे हाथों में नहीं। सियासी रहनुमाई, देश के दुर्भाग्य से, आज पूरी तरह उन लोगों की मुट्ठी में है, जिन्हें सोच-विचार या सवेदन अथवा राष्ट्र या समाज के हित के सवालों से कोई वास्तानहीं। जो खुद की कुरसी या राष्ट्र में से एक का तोड़ना हो, तो राष्ट्र तो तोड़ना पसंद करेंगे। और कि दूरदर्शन- आकाशवाणी ही नहीं, बल्कि हजारों-हजार अखबार भी जिनकी उगलियों में लिपटी सूत के हिसाब से अपना मुह खोलते और बद करते हैं। जो सचार-प्रसार माध्यमों पर अपनी दसमुखी गिरफ्त के बूते, पूरे देश में उन्हें और जातिवादी मानसिकता का अहर्निश उत्प्रेरण और नियमन करने में पूरी तरह सक्षम हैं। जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के घगुल से बाहर निकलते देश को खुद के शिक्जे में कस लिया है। जिन्होंने करूणा, सवेदना, सहभागिता,

सदाशयता, समरसता, सहिष्णुता और सामाजिक सोच-जैसे सारे नैतिक मूल्यों को अजगर की तरह निगल लिया और पूरे राष्ट्र में एक भयावह वैचारिक तथा स्वेदनात्मक उजाड़ और सन्नाटा कायम कर दिया है। जो खुद के एक ही इशारे पर हजारों -लाखों को सड़क पर नगनाथ दिखाने को प्रेरित करने में कामयाब है। जिन्होंने स्वेदन और सोच-विचार के सवालों को उठाने में समर्थ लोगों की जगह धार्मिक-साप्रृत्य धिल और जातिवादी जहरबाद की नौटकी खड़ी करने वाले कठमुल्लों को देश के मूर्द्धन्य प्रतिनिधियों के तौर पर गोलबद कर दिखाया है। इन महामहिम सियासी प्रभुओं के अकूल राक्षसीबल को जाने बिना, खुद की सीमाएँ पहचानना समव नहीं होगा।

‘राम-बाबरी पार्क’ की धर्मनिरपेक्ष पेशकश इसी मासूम बौद्धिक मुगालते की उपज है जो हमें शुनछुना बजा कर बुढ़ापा काटने की सलाह देने से कमतर मजाक सद्यमुद्य नहीं। क्या डॉ. मासूम रजा को सद्यमुद्य इतना भी इत्य नहीं कि राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद की सियासी-मजहबी जुगलबदी खेलने वाले इतने मासूम कर्ताई नहीं कि उनके हिस्से सिर्फ आग लगाने की तोहमत रह जाय और आग बुझाने का श्रेय डॉ. मासूम रजा या हम ले उठें और ‘राम-बाबरी पार्क’ में हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई, सारे भारतीयों के बच्चे शुद्ध हिंदुस्तानी धर्मनिरपेक्ष किलकारियों- अठखेलियों से भारतीय सस्कृति के स्वर्णम पृष्ठ रथते दिखाई पड़ें ?

नहीं, इन बेबुनियादधर्मनिरपेक्षखामख्यालियों और किस्सेबाजी के स्तर की हवाई काव्यात्मक फुल्कारियों में रामजन्म भूमि बनाम बाबरी मसजिद मामले का कोई निदान कर्ताई नहीं। -इस तरह की खामख्यालियों, खुशफहमियों और लफकाजियों से ही काम घलाना हो, तब राम-बाबरी क्यों, हा राही मासूम रजा पार्क’कर लेने में क्या हर्जा है ? क्योंकि जहाँ तक हम-जैसे लोगों का सवाल है, हमें जितनी जगह और जैसी हरियाली हा मासूम रजा पार्क में मिल सकेगी, राम-बाबरी पार्क में कहाँ ?

किया क्या जाये राम जन्मभूमि और क्या बाबरी मसजिद का, इस बात से पहले हम इस सवाल में थोड़ा और जाना चाहेंगे कि धार्मिक, साप्रदायिक या वर्गीय तुष्टियों के संभावित खतरे क्या हुआ करते हैं ? व्यक्ति की धार्मिक मानसिकता के ततु जितने कोमल हों, सप्रदायवाद का हिस्सा बन जाने पर, ये अतने ही विस्फोटक भी हो जाते हैं अगर राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद का हल इस या उस, अथवा दोनों सप्रदयों के कठमुल्लों की समान धार्मिक राजनीतिक तुष्टि और स्वार्थसिद्धी के तौर निकाला गया, तो तय है कि साप्रदायिक विद्वेष का कर्करोग जस-का-तस मौजूद रहेगा, क्योंकि यह हल तो पहले से ही मौजूद है। आधे में राम जन्मभूमि और आधे में बाबरी मसजिद -जब ताला बद्ध था, तब भी काग्रेसी हुकूमत का नुस्खा यही था और ताला खुलने के बाद भी स्थिति वही है।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद के सवाल में ध्यान इस बात पर देना जरूरी होगा कि हिंसा डर की उपज है। यह एक सर्वाई है कि दोगों में ज्यादातर गमीर क्षतियाँ मुसलमानों -या कह लें कि अल्पसख्यकों को उठानी पड़ती हैं लेकिन भूलना नहीं चाहिए

कि इसमें बहुसंख्यक हिंदुओं से ज्यादा सदिग्द तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार की भूमिका रही है। दिल्ली और मेरठ के दगो की हकीकत यही है। हिंदू भी डरे-समझे हैं, सिर्फ मुसलमान ही नहीं, यह एक हकीकत है और बहुत खतरनाक व तकलीफदेह हकीकत।

और यह सारी दहशत उस तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार का अविष्कार है, जो कि सर्वधर्मसम्मान के मुखोटे में सर्वसम्प्रदायवाद-जातिवाद-नस्लवाद के विवादों का घला रही है।

अगर केंद्र में सांप्रदायिक तत्वों का जमावडा नहीं होता, राष्ट्रीय सामाजिक सोच-विचार के लोग सत्ता में होते, तो न हिंदुओं को मुसलमानों से डर होता और न मुसलमानों या सिखों को हिंदुओं से। न सवर्णों से हरिजनों को। सरकार की विश्वसनीयता के नष्ट हो चुके होने के कारण ही सब डरे हैं और अपने-अपने सुरक्षा-व्यूह रचना चाहते हैं। लेकिन चूंकि फौज और पुलिस की शक्तिया सरकार के हाथों में है, इसलिए अपनी-अपनी सांप्रदायिक वोट-शक्ति का दबाव बनाना ही एकमात्र रास्ता दिखाई पड़ता है। राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के पीछे भी यही सियासी-सांप्रदायिक लुका-छिपी काम कर रही है। अगर केंद्र सरकार किसी तरह यह साख बना ले कि दगों से सिर्फ सांप्रदायिक गुड़ा-शक्तियों को नेस्तनाबूद करने के इरादे में निबटा जायेगा- धर्म और जाति के हिसाब से राजनीतिक गोट बिठाते हुए नहीं, तो सारे सांप्रदायिक तत्व दूध में के उफान की तरह नीचे बैठने शुरू हो जायेंगे और सांप्रदायिक समरसता की सस्कृति में ईमान लाने वाले लोगों को आगे बढ़ने को जमीन मिलेगी।

अब अगर हम राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद के सामाजिक पर्याफैसले पर भी आय, तो न्याय की तुला का तर्क क्या हागा? यह कुत्तर्कि कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दलाल देश को जिस मुकाम पर छोड़ गये, इसे वही ज्यों-का-त्यों, जैसा-का-तैसा कायम रखा जाय? या कि एक स्वाधीन देश अपने सारे फैसले खुद की सस्कृति, भूमि और भवितव्यता के आधार पर ले?

अग्रेजों का काम जिन्ना एड कम्पनी के नाम पाकिस्तान लिख जाने के साथ ही खत्म हो गया। भारतवर्ष अग्रेजों की पुश्तैनी जागीर नहीं, जो कि वे जाते समय स्थितियों को जहों छोड़ गये, वही कायम रखा जाय। पाकिस्तान के साथ ही मजहबी जुनून के मुरीदों का हक भी खत्म हो गया, इस सचाई से मुँह चुराने में कुछ नहीं रखा, न ऐसी कोई जरूरत है, क्योंकि इससे पाकिस्तान जाने से इन्कार करनेवाले मुसलमानों का हक खत्म नहीं, पुख्ता हुआ। लेकिन किन मुसलमानों का? जा कभी इस्लामी कानूनों और कभी बाबरी मस्जिद के बहाने अपनी सांप्रदायिक शक्ति का हौवा खड़ा करने में ही खुद की शान और कौम तथा मजहब की बेहतरी समझते हैं? जो धार्मिक विवादों को हिंदुओं के साथ मिल-बैठ कर सुलझाने की जगह, काग्रेसी सल्तनत के साथ वोटों की सौदबाजी का सियासी जाल बुनने को ज्यादा तरजीह देते हैं? जो हर बार और ज्यादा जोर-शार से यह बदरघुड़की देते हैं कि अगर उनके मजहबी कठकानूनों के ऊपर देश के राष्ट्रीय कानून लाये गये या कि बाबर को राम से कम करके दखा गया, तो वो भी धज्जिया बिखर देगे?

अमीर खुसरो, रहीम, रसखान, कबीर और जायसी, तानसेन आदि के भारतीय संस्कृति के निर्माण में लगे हाथों की गवाही किन मुसलमानों के पक्ष में खड़ी करनी चाहते हैं, रजा ? और किन हिंदुओं के खिलाफ ? भारतवर्ष इतने भयकर विश्वासघात, सघात और अग-भग झेलने के बाद भी 'हिंदू राष्ट्र' नहीं बना है तो यह सबूत है कि यहाँ का हिंदू समाज बालठाकरे के त्रिशूली हिंदुओं तक ही महदूद नहीं ।

यहाँ 'गगा' सं गगापुत्र रजा साहब के बौद्धिक विलाप के दो प्रसंग और उद्धत कर देना अप्रासाधिक नहीं होगा । किसी गुमनाम त्रिशूली हिंदू के उनको लिखे पत्र की चढ़ पक्षितया यों हैं- 'साले कटवे, मक्के भदीने पर तू खुद पेशाब कर । उसके बाद उसे बम से उड़ा दे- राम जन्मभूमि को ढाहने करने की हिम्मत तेरी -शिवसेना का त्रिशूल तेरी अतडियों में घुसने का तैयार है- गगा मे नहा तू सुअर । अगर कुछ जानना है, तो वेदों को पढ़, उपनिषद् पढ ।'

उपरोक्त सर्वर्थ में हम इतना ही कहेंगे कि जहाँ तक वेदों-उपनिषदों के सही ज्ञान का सवाल है, वह भी त्रिशूली हिंदुओं से कम नहीं, ज्यादा ही होगा मासूम रजा मे- और देश से वफादारी और मुहब्बत भी । लेकिन इस तरह की गद तश्तरी में रख कर दिखाने की वस्तु नहीं, क्योंकि कल कोई बदादिमाग 'बल्लभी मुसलमान' भी इस तरह के कुत्सित खत किसी हिंदू को भेज सकता है । इस तरह के गुमनाम खतों को गुमसुम रखना ही ठीक ।

हम रजा साहब के लेख मे से ये प्रसंग सिर्फ इस इरादे में ले रहे हैं कि आगे भी कुछ विकृतकर्मी इस तरह की हरकते कर सकते हैं, लेकिन समझदारी इसी मे होगी कि इन पर न मुसलमान कोई तवज्जो दे, न हिंदू रत्ती-भर भी ध्यान, क्योंकि यह गुमनाम त्रिशूली पत्र कोई हिंदू धर्म का प्रतीक धिहन नहीं ।

रजा की वेदना जायज है, लेकिन गुमनाम घिट्ठी की प्रदर्शनी नहीं । आज भारत के जाने कितने मुसलमानों का जी दुखा हुआ है । यह भारतीय संस्कृति ही नहीं, हिंदुओं के लिए भी भयानक रूप से अशुभ है । हम उनके इस विषाद से भी काफ़ि हद तक सहमत हैं कि - 'हिंदुत्व को मिटाने में कोर-कसर न छोड़ने की बात न कीजिए । हिंदुस्तान के मुसलमानों ने हिंदू संस्कृति और सम्यता को अपने खूने-दिल से सीध कर भारतीय संस्कृति और भारतीय सम्यता को बनाने मे बड़ा योगदान किया है । आप-जैसों की परेशानी यह है कि आप लोग धर्म की धूल-भरी, गहरे रगोवाली ऐनक उतार कर, धूप का असली रग देखने को तैयार ही नहीं हैं । भूल जाइए कि हिंदुस्तान सिर्फ आप-जैसे हिंदुओं ही का है । हिंदुस्तान मेरा भी है और वह किसी भी तरह आपसे कम मेरा नहीं है ।'^१

हम रजा साहब के इस दावे से बिलकूल सहमत हैं कि हिंदुस्तान उनका भी है और नैतिक दृष्टि से हिंदुस्तान में पहला हक उन-जैसे सवेदनशील और सदाशयी लोगों का ही होना चाहिए । रजा साहब ही क्यों, किसी भी ऐसे मुसलमान का हक हिंदू से कम नहीं, जिसमे ठीक वैसे ही यहाँ की मिट्टी बोलती हो, जैसे रजा साहब मे । बल्कि हम कहेंगे

कि रजा साहब-जैसे मुसलमानों का हक इस देश की मिट्टी में उन तमाम हिंदुओं से ज्यादा है जो भारत की बेमिसाल सास्कृतिक गरिमा को मिट्टी में मिला कर, पाकिस्तान की नक्ल में, एक शुद्ध हिंदू राष्ट्र का विकृत नक्शा खड़ा करना चाहते हों। वह हर हिंदू भारत का अत्यत धातक शत्रु है, जो देश की इस सास्कृतिक अस्मिता को कुचलना चाहता हो कि सबसे ऊपर मनुष्य है। जाति वर्ण और धर्म इनसे आदमी की कोई पहचान पूरी नहीं होती। आदमी देश से गुँथा है।

समरसता का तक क्या बनता है ? जिस झगड़े को खड़ा करना अपरिहार्य न हो, उससे हाथ खीच लेना। बाबरी मसजिद का झगड़ा झाड़ घुसेड़ कर फसाद खड़ा करना है। समय-समय पर अनेकों विचारशील मुसलमानों ने खुद यह पेशकश की है कि हम मुसलमानों को बाबरी मसजिद का दावा छोड़ देना चाहिए। जो मुसलमान यह सोचते हों कि बाबरी मसजिद का दावा छोड़ देने से उनकी तौहीन होगी और हिंदू इसे उनका दबना मान कर घट बैठेगे- हम कहेंगे कि वो बिलकुल गलत और खतनाक गलत सोचते हैं। अगर हिंदू समाज इतना पतित हो ही चुका है कि मुसलमानों की इस उदार और आत्मीय पहल को उनकी मजहबी या साप्रदायिक हार करार देकर जश्न मनाये तथा उनसे और भी मसजिदे छीनने की मुहिम तेज कर दे, तो मुसलमानों को चाहिए कि हिंदुओं को उनके हाल पर छोड़ दे, क्योंकि गलाजत आखिर उन्हें ही ढुबोती है, जिनमें मौजूद हो।

उदारता और स्वेदना किसी भी व्यक्ति, सप्रदाय या राष्ट्र को कमजोर नहीं शक्तिशाली बनाते हैं। मुसलमानों की आत्मीयता परस्पर की भागीदारी की पहल और भारतीय सस्कृति के प्रति खुद की भी आस्था को अगर हिंदू अपने धर्मयुद्ध की विजय, तथा 'हिंदू राष्ट्र' का रास्ता साफ होना करार दें, तो यह उनकी बुद्धि के विनाश के सिवा और किसी बात का सबूत हांगा नहीं। विवेक और स्वेदना जाते रहे तो कैसे भी परमशक्तिशाली अतत विनाश के हवाले ही होते हैं।

मुसलमान को देखना होगा कि उनका करना क्या बनता है। जो सवय के सव्य और कर्म पर टिकते हैं, उन्हें दूसरों का अदेश जाता रहता है क्योंकि रास्ता और कोई नहीं। अपने हिस्से का दाम चुका कर ही हम अपने में बने रह सकते हैं। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि मुसलमानों को न सिर्फ यह कि बाबरी मसजिद का दावा छोड़ देना, बल्कि राम जन्मभूमि मदिर के निर्माण में हाथ बटाने की पेशकश करनी चाहिए और उस मदिर में सबसे पहली आरती का हक किसी शकराचार्य या अन्य हिंदू धर्माचार्य को नहीं, डॉ. गही मासूम रजा-जैसे मुसलमानों को मिलना चाहिए।

उदारता शक्तिमतो की पहचान है, बर्बरता जाहिलो की। उदारता धर्म या मजहब में से कुछ तोड़ती नहीं, जोड़ती है। जिस भारतीय सरकृति का गाना रजा साहबभी गा रहे हैं, वह धर्म में उदारता को जोड़ती है। वही धारा नदी बनती है, जिसे दूसरी धाराओं का जल जुड़ता है। पाकिस्तान की सरकृति क्या है ? उसकी एक चौहदादीबद मजहबी शक्ल क्यों निकल आयी ? हम बिलकुल विश्वास करना चाहते हैं कि बाबरी मसजिद का जेहाद वापस लेने से मुसलमानों की साख बढ़ेगी। इससे हिंदुओं पर यह नैतिक दबाव बिलकुल बनेगा कि मुमलामन तो सामुदायिक सौहार्द और मेल-मिलाप के लिए यहाँ तक हाथ आगे

बढ़ाने को तैयार है, हिन्दुओं का इरादा क्या है ?

हमें हर आपसी विवाद का सामाजिक हल निकालने की जरूरत है, सियासी या मजहबी नहीं। हिंदू और मुसलमान, इन्हे अगर एक सिक्का बनना है, जिसका एक पहलू गगा, दूसरा जमुना हो - और इन्हीं दो पहलुओं में बाकी भी सारे रग खिले रहे - तो रास्ता यहीं को जाता है। जिनका हक, जिनकी जरूरत और जिनका सवाल पहला हो। जिसमें साच, सवेदन और कर्म के मेतु जुड़ते हा। जो हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई-पारसी का पचनद रघ्य सकता हा। जहाँ धर्म हमारी बाधा नहीं, शक्ति बन जाय। सस्कृति धर्म के इसी परिष्कार का नाम है। समुदायों को एक वृहद् समाज बनाने की कला का नाम।

बाल ठाकरे और उनके अनुयायी त्रिशूली-हिंदू सियासी मजहबी मुसलमान कठमुल्ला के समानधर्मी हो सकते हैं, भारतीय सस्कृति के दावेदार नहीं - लेकिन रजा साहब क्षमा करे कहने को कि राम-बाबरी पार्क की पेशकश 'गगापुत्र' होने की गवाही नहीं ही हो सकेगी। हम यह बात बहुसंख्यक हिंदू समाज को ध्यान में रख कर कह रहे हैं, अन्यथा जहाँ हमारा सवाल है, हमें सचमुच डॉ. राही मासूम रजा पार्क में भी कोई फर्क नहीं पड़ना क्योंकि हमारे लेखे राम महाकाव्यात्मक सवेदना के साक्ष्य पहले है, मदिर की प्रतिमा बहुत बाद में। यानी नाम-मात्र को, क्योंकि राम-नाम पार्क की दीज नहीं, भारतीय सस्कृति का महाशब्द है। इसी से यह आज सियासी-मजहबी चालबाजियों की भी आड हो गया है लेकिन यूंकि दावा पहला राम के होने का बनता है और हिन्दुओं की चेतना-सवेदना से राम नाम के जन्म से मरण तक जुड़े होने का, इसलिए उनका पलड़ा कुछ अधिक भारी मान लेने में रजा साहब को भी एतराज नहीं ही होना चाहिए।

१८५७ की क्राति के समय, बहादुरशाह जफर की पहल पर मुल्ला-मौलवियों की एक पद्धायत ने 'बाबरी मस्जिद' का दावा, छोड़ देने की पेशकश बाकायदे की थी, इतिहास के इस प्रसग को 'बहादुर शाह जफर' सीरियल के लेखक रजा साहब हमसे बेहतर जानते हैं, हालांकि सीरियल में इसे या उन्होंने नहीं लिया, और या दूरदर्शनियों ने नहीं दिया। रजा साहब यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि १८५७ में हिंदू-मुसलमान के एके ने अग्रेजों को गगा-जमुनी सस्कृति की जड़े रेतन के इरादे तक पहुँचाया। ऐसे में, हम कोई नयी पेशकश नहीं कर रहे, बल्कि कभी जा हिंदू-मुसलिम एके का रास्ता खुद मुसलमानों ने निकाल दिखाया था, उसकी ही याद दिला रहे हैं।

अगर मुहम्मद साहब की मजार का दावा होता, तो हम भी चुप साध लेते, यह बाबर के द्वारा - या उसके नाम पर बनायी गयी ममजिद और किसी हिंदू राजा के द्वारा बनाये गये राम मदिर का मसला होता, तो भी मामला इतना पेचीदा नहीं हाता। गम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का तराजू पर एक साथ (और एक बराबर) वजन निकालना आसान नहीं होगा, फिर याहे वह भारत सरकार की न्यायपालिका की जन्माध दवी की आखों पर काली पट्टी वाली इसाफ की देवी वाला तराजू ही क्यों न हो।

हम यिर्ष इतनी ही पेशकश करना चाहेंगे कि चैकि धर्मविर्हानता अभी भारतीय

समाज से अतरिक्ष से कम दूरी पर पर नहीं, ऐसे में, क्या इसमें सचमुच कुछ हर्ज होगा कि अयोध्या के एक कोने में राम-मंदिर रहे और दूसरे कोने में बाबरी मसजिद ? एक में मुसलमानों के स्पर्श हो, दूसरे में हिंदुओं के ?

‘साथ-साथ’ की बात इसलिए कठिन है कि अभी देश में न सामाजिक जागृति है और न सास्कृतिक समरसता की लहरे ऊपर उठ रही है। फिलहाल तो रास्ता कोई-न-कोई धार्मिक तृष्णि का ही निकलना होगा। हम रजा साहब से जानना चाहेंगे कि क्या ऐसा कोई रास्ता भी सूझा सकेंगे, जिसकी हकीकत राम-बाबरी पार्क से भी अलग हो और राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद से भी ?

इतना हम जोर देकर कहना चाहेंगे कि सरकार इसमें कुछ नहीं कर पायेगी। दो बिल्लियों के बीच में बदर से इतनी ऊँची उम्मीद रखना हक में नहीं ही होगा। इस मामले में करोड़ों हिंदू-मुसलमानों के बीच का आपसी मुहब्बतनामा ही इस सवाल को नरक की आग बनने से बचा सकता है। हमारी समझ में, भारतीय स्वत्त्व का यही सारतत्व है। अब यह सवाल दीगर कि यह पहल कौन करना चाहेगा, कौन नहीं - स्वर्ण मंदिर के हादर्में से कोई सबक हम ले सकते हों, तो उसका सही वक्त यही है। कहीं सियासत का फैसला पहले सामने आ गया तो फिर वह किसी सामाजिक फैसले की गुजाइश छोड़ेगा नहीं।

रजा साहब से कह लेने में कुछ हर्ज नहीं होगा कि राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद का समाज की पद्धायत की जाह, सियासत की बदरगाह के हवाले करना इसे राम-बाबरी पार्क में नहीं, हिंदू-मुसलिम करबले में बदल छोड़ेगा। इस धार्मिक-मजहबी नासूर को दबाये या ढाके रखने में दिलचस्पी ठीक नहीं। आदमी को दावा करना ही नहीं, समय आने पर, दावा छोड़ना भी आना चाहिये।

जब भी कोई मरजी से दावा छोड़ता है, खुद के भी हक में ही छोड़ता है। जमीन हो, या मजहब, धर्म हो, या स्वत्त्व की दावे का दोनों के हक में होना जरूरी है, क्योंकि तभी फैसला भी दोनों के हक में हो सकेगा। राम को भारत की सास्कृतिक विरासत के रूप में देखने पर ही हल निकल सकता है, क्योंकि राम को हिंदुओं के देवता की हृद तक ही महदूद देखना जितना हिंदू उतना ही मुसलिम साप्रदायिकता का भी सबूत होगा जरूर। कबीर मूर्ख नहीं थे। न ही उनसे ज्यादा दबग और निर्भय-निर्वर्ति मियाँ शहाबुदीन या श्रीमान बालठाकरे माने जा सकेंगे। कबीर ने राम को ‘हिंदू राम’ की हृद में नहीं देखा। नहीं तो ‘कविरा कूता राम का’ कदापि न निकलता उनकी वाणी से और जो उनसे ज्यादा खरा या बड़ा मुसलमान होने का दावा करे, उसका मुसलमान होना भी मुश्किल ही होगा।

इतना हम जोर देकर कहना चाहेंगे कि राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद के मामले में हिंदू और मुसलमान इन दो में से एक का दावा वापस होना ही एकमात्र रास्ता है। कौन कब, और कैसे करेगा यह ऐतिहासिक पहल। किसके द्वारा खत्म होगी दो में से किसी एक की हेकड़ी - यह इतिहास के गर्भ की वस्तु जरूर हो सकता है, और इतिहास जब भी स्वत्त्व के विपरीत चलता है, तो इसके नतीज क्या और कैसे निकलते हैं, इसके लकड़ों पर उनीं चर्चिताएँ तात्त्वों पर आतीं रहीं रहीं।

रामायण और रामचरितमानस के सास्कृतिक खतरे

कांग्रेस की चुनावी रणनीति में, १९८० के बाद, एक जो रोमांचक उल्ट-फेर साफ दिखायी दे जाता है, साम्प्रदायिक समीकरण का तावापलट- इस तावापलट का ही परिणाम है, अल्पसंख्यक की जगह, बहुसंख्यक समुदाय की तुष्टियों को प्राथमिकता । अल्पसंख्यकों की जगह बहुसंख्यकों के वोट-बैंक की साम्प्रदायिक कूटनीति के इस खुले खेल ने ही भारत सरकार के धर्मनिरपेक्षता के लबादे की हकीकत उजागर की है और उसे अनेक बार छायानटों की भाँति 'हिंदू राष्ट्र' की संकल्पना के कठघरे में तक छड़ा किया है। मगर सत्ता सामाज्य के हाथ बहुत लम्बे हुआ करते हैं।-प्रतिभा खरीदने की क्षमता उसे छूठ को कायम रखने में समर्थ बनाती है।

राज्य की यह समर्थप्रभुता उन तमाम बुद्धिजीवियों पर दोहरा दबाव बनाती है, जो छूठ-सद्य के भाष्य में हाथ लगाने की दावेदारी रखते हों। अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिक गोलबन्दी और उनके राजनैतिक दोहन में भी, बुद्धिजीवियों की एक बिरादरी व्यवस्था के छूठ पर आवरण करने में विश्वास रखती है। एक तरफ हिंदू साम्प्रदायिकता का हौवा और दूसरी तरफ सत्ताकेन्द्र के मुखौट पर धर्मनिरपेक्षता का रग-रोगन, इसी बुद्धिजीवी सम्प्रदाय का करिश्मा है। 'रामायण' और 'रामचरितमानस' से हिंदू साम्प्रदायिकता का सकट घोषित करते हुए, भारत सरकार से इनको अपने सद्यार-प्रसार माध्यमों में प्रमुखता न देने की सामूहिक अपीलों के पीछे भी यही दोहरा चरित्र बोल रहा है।

'रामायण' और 'रामचरितमानस' से हिंदू साम्प्रदायिकता में बाढ़ का अन्देशा ऐसे अवसरवादी बुद्धिजीवियों को दुबला कर रहा है, जो सत्ता की दलाली और समाज की अगुवाई- दोनों नावों की सवारी एक साथ चाहते हैं। ये इतना तो कहते हैं कि धर्म को राजनीति से दूर रखा जाना चाहिये- क्योंकि यही सरकार कहती है- लेकिन यह नहीं बताते कि दो में से ज्यादा विकृत कौन हो चुका- धर्म या राजनीति ? न ये इस सवाल का कोई जवाब देते हैं कि जिस देश के सविधान में ही नाना धर्मों को कानूनी मान्यता प्राप्त हो, उसकी राजनीति में से धर्म आखिर अलग होगा कैसे ?

हर दोमुँही राज्यव्यवस्था दोमुँहे बुद्धिजीवियों की जमाते तैयार करती है। ऐसे

बुद्धिजीवी, हमेशा, अद्वितीयों की आ नेते हैं। 'रामायण' में हिन्दू साम्राज्यिकता को बढ़ावा मिलने और संस्कृति को खतरा हाने की यह नयी हाय-तौबा भी इसी अवसरवाद की उपज है।

अभी हाल में कुछ बुद्धिजीवियों का इस आशय का एक भयुक्त वक्तव्य अखबारों में छपा कि 'रामायण' के धारावाहिक प्रसारण से 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद' का खतरा सिर उठा रहा है और इससे अल्पसंख्यक वर्गों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो रही है। हालांकि, चरित्र की बुनियादी खासियत के तहत स्पष्ट नहीं कहा गया कि 'रामायण' सीरियल हिन्दुओं को अल्पसंख्यक वर्गों के विरुद्ध लाभबन्द कर रहा है, बल्कि 'सास्कृतिक सकट' का तक निर्मित किया गया। सास्कृतिक सकट से इनका मन्तव्य क्या है, शायद, ये खुद भी नहीं जानते, क्योंकि इनका उद्देश्य संस्कृति के सवालों में जाना नहीं, सिर्फ अपना हुलिया घौंचक रखना है। भारत सरकार की ही तरह, खुद भी धर्मनिरपेक्षता की चादर ताने रहने की घतुरता में, इन्हे इस प्रसार को भी उतना ही छूना है, जितने से कार्य सिद्ध हो जाय।

ये इस बुनियादी सवाल में कोई दिलचस्पी नहीं रखत कि एक स्तरिक हो कि राजनीतिक, कोई भी सकट किन्हीं वस्तुओं से स्वत खड़ा नहीं हुआ करता। ऐसे हर सकट के पीछे समाजविरोधी तत्व होते हैं और इनके लिये वस्तुओं को विरुपित करना बाय हाथ का खेल हुआ करता है। 'रामायण' और 'रामचरितमानस' से यदि सचमुच कोई सास्कृतिक सकट खड़ा हो रहा है, तो इसकी पूरी जिम्मेदारी भारत सरकार पर आयद होगी, क्योंकि धर्मनिरपेक्षता का 'सत्यमेव जयते' मढ़ा चमयमाता लबादा उसी के हौदे पर छूल रहा है। 'रामायण' का प्रसारण भी सरकार की सुनियोजित सास्कृतिक राजनीति के तहत हो रहा है। तब 'रामायण' का प्रसारण रोकने की भारत सरकार से अपील का मतलब क्या है? अगर खुद भारत सरकार नहीं, तो फिर वह हिन्दू साम्राज्यिक सत्ता कौन-सी है, जिसके दबावों के आगे यह सम्प्रभुतासम्पन्न धर्मनिरपेक्ष समाजवादी सरकार घुटने टेके है और लाघार होकर दूरदर्शन से 'रामायण' का प्रसारण कर रही है?

सरकार के चरित्र पर उगली उठाने की जगह, ये बुद्धिजीवी 'रामायण' तथा 'रामचरितमानस' के प्रसारण को हिन्दू साम्राज्यिकता का प्रसार घोषित करने में ज्यादा रुचि रखते हैं। अफसोस कि इसी धुरीहीन धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का प्रतिनिधित्व कमलेश्वर ने भी किया है। उनके धर्मनिरपेक्ष सास्कृतिक सोच के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

१- 'मैं चाहता हूँ कि यह पूरा देश विद्रोह करे, एक वैद्यारिक विद्रोह!' क्योंकि यह हमारी संस्कृति पर आक्रमण है, और यह आक्रमण दूरदर्शन के जरिये हो रहा है। एक तरफ हैं रामानन्द सागर, जो हिन्दुओं की शरीअत 'रामायण' दूरदर्शन पर पेश कर रहे हैं और अखबारों ने खबर दी है कि प्रधानमंत्री राजीव गांधी न उनका सम्मान अपने घर पर किया है, क्योंकि वे प्रधानमंत्री के मुताबिक- भारतीय संस्कृति को उसके सही अर्थों और सन्दर्भों में पेश कर रहे हैं। मुझे तरस आता है प्रधानमंत्री के सलाहकारों पर, जो रामानन्द सागर के सीरियल 'रामायण' को यह ओहदा दे रहे हैं। रामानन्द सागर की यह कौन-सी मजबूरी थी कि वे हिन्दुओं का इतिहास लेकर

दूरदर्शन पर आये ? और वह इतिहास, जो कि गलत, अवैज्ञानिक और पुनरुत्थानवादी है। रामानन्द सागर भाई, मेरे दोस्त, मेरे हमसफर आपका 'रामायण' धारावाहिक हिन्दुओं को गलत जानकारी देकर, उन्हे और ज्यादा तास्सुबी बना रहा है। उन्हे अतीत का वह गौरव द रहा है, जो आज कोई अर्थ नहीं रखता बल्कि हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को पुछता करके दूसरे धर्मवालों को भड़का रहा है।'

२- 'जब रामानन्द सागर के सूर्यवशी राजा दशरथ कहते हैं कि उनका राज्य वहाँ तक है, जहाँ तक सूर्य की किरणे जाती हैं, तो एक क्षण के लिय हम इसे काव्यात्मक उकित मान सकते हैं, परन्तु जब राजा दशरथ अपने राज्य की सीमाओं को बताने लगते हैं, तो वे वह भूगोल बताते हैं, जिसमें मगध-जैसे प्रान्त भी शामिल हैं, तो पूछना पड़ता है कि रामानन्द सागर वह कौन-सा इतिहास और भूगोल बता रहे हैं। जो मैं जानता हूँ कि सागर भाई ने निश्चय ही शाद की होगी, क्योंकि वे गैर-जिम्मेदार लेखक और व्यक्ति नहीं हैं, परन्तु उनकी शोध के स्रोत निश्चय ही गलत हैं, - क्योंकि किवदन्ती और पुराण को इतिहास नहीं कहा जा सकता। और जिसे इतिहास बनाकर पेश किया जा रहा है, वह इसलिय और भी खतरनाक है क्योंकि वह एक हिन्दू पुनरुत्थानवाद को जन्म दे रहा है हिन्दू गौरव, दर्प और अह की मानसिकता का निर्माण कर रहा है यह खतरनाक इसलिये भी है कि 'रामायण' - जैसा धारावाहिक इस याद को ताजा करता है कि इसी 'रामायण' को गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के रूप में दावारा लिखा- उस समय, जब हिन्दू जाति पददलित थी और कि तुलसीदासकृत रामायण ने हिन्दुओं को वह मनोबल दिया, जो मुगलों ने तोड़ दिया था।'

३- 'सिर्फ ऐसा नहीं है कि लोग धारावाहिक 'रामायण' देख लेते हैं, वे उसके सन्देश पर बाद में भी बात करते हैं, जो मात्र कहानी के स्तर तक तो मामूल दिखाई देते हैं, परन्तु सास्कृतिक अर्थों में खतरनाक हो जाते हैं। यह बात तब और खतरनाक हो जाती है, जब यह धारावाहिक उस दौर में दूरदर्शन पर आता और घलता है, जब राम-जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मसला मेरठ से बतारीख आज १२३ लाशों को जन्म देता है और बुलन्दशहर, मुरादनगर, सिकन्दराबाद और गाजियाबाद से गुजरती गग नहर सौ से ज्यादा लाशों को बहा कर लाती है- गग नहर का यह पानी अब पानी नहीं है, यह खून की नहर है, जो अब जिन खेतों और फसलों को सीधेगी, वे फसलें कैसी हागी, यह सोध मकना भी भयावह है, सस्कृति की नहरें भी उसी तरह दिमागों को सीधती हैं, जैसे गग नहर खेतों को सीधती है और जब किसी जाति की दिमागी जमीन खून से सिंच जाती है, तो जमीन पर बहती उसकी नहरे भी खून से भर जाती हैं।'

४- 'मैं यह नहीं कहता कि रामानन्द सागर ने 'रामायण' को इसीलिये बनाया है, क्योंकि वे एक बहुत जागरूक और प्रगतिशील व्यक्ति हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि सरकार ने इस धारावाहिक को जानबूझ कर ऐसे गलत समय पर लगाया है, परन्तु

यह मैं जरूर कहना चाहूँगा कि आधारभूत रूप से रामानन्द सागर और सरकार दोनों का फैसला ही गलत है, क्योंकि 'रामायण' एक धार्मिक पुस्तक है, एक पौराणिक पुस्तक है- वह इतिहास नहीं है और यह माना जाता है कि तुलसीकृत रामायण मुगलों के अत्याचार के दौरान हिन्दुओं की मानसिक रक्षा का कवच बन गई थी।'

'रविवार' २७ जून १९८७ के अक मे 'कमलेश्वर की कलम ये' कालम के अन्तर्गत प्रकाशित वक्तव्य के ये कुछ अश हैं। इनके अलावा भी कई क्रान्तिकारी सास्कृतिक विद्यार उन्होंने कुछ इस तेवर में प्रस्तुत किये हैं, जिससे धर्मनिरपेक्ष प्रधानमन्त्री राजीव गांधी और बहुत ही जागरूक तथा प्रगतिशील व्यक्ति रामानन्द सागर की ओंखों मे पड़ वो जाले साफ हो सकें, जिनका कि हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों (या व्यक्तियों) के द्वारा पूरी हिन्दुस्तानी कौम का दिल दहलाने मे उपयोग किया जा रहा है।

जवाब नहीं इस वैद्यारिक साफगोई का, जो 'रामायण' के फिल्मी निर्माता भाई रामानन्द सागर और उनका सास्कृतिक ओहदा प्रदान करने वाले प्रधानमन्त्री को तो साफ बचा ले जाना चाहती है- कटघरे मे खड़ा करती है, ऐसे अमृत तत्वों को, जिनकी काई पहचान खुद कमलेश्वर को नहीं। हम उनकी स्थापनाओं का जवाब क्रमशः देना चाहेंगे।

हम जानना चाहेंगे कि अगर पूरा देश उनके मार्गदर्शन मे विद्रोह करना चाहे भी, तो करे किसके विरुद्ध ? विद्रोह का लक्ष्य ओहाल रखकर विद्रोह का आवाहन करने का कोई मतलब नहीं हुआ करता। यह खुद हवा मे तलवार भाजना और दूसरों को इस नाटक मे शामिल होने का न्यौता देना है। कमलेश्वर कर्ताई नहीं कहते कि मसले को लेकर भारत सरकार, राजीव गांधी, दूरदर्शन या कि रामानन्द सागर के विरुद्ध विद्रोह किया जाना चाहिये। वो सारी बला राजीव गांधी के सलाहकारों के मत्थे डालकर, विद्रोह का प्रस्तग समाप्त कर देते हैं।

अभी कुछ अरसा पहले कमलेश्वर राजीव गांधी को देश के सर्वाधिक योग्य प्रधानमन्त्री का ओहदा दे चुके हैं। आश्चर्य कि देश का सबसे योग्य और समर्थ राजनीतिक व्यक्ति अपने सलाहकार चुनने के मामले मे इस कदर लापरवाह है। स्पष्ट है कि 'मुझे तरस आता है' कहकर, कमलेश्वर ज्यादा से ज्यादा दरबार मे परिवर्तन की मौगे उपस्थित कर रहे हैं। यानी कुछ सलाहकारों को हटाने, कुछ को भर्ती करने की माग। यहाँ हम, अपनी ओर से, कमलेश्वर भाई का नाम प्रस्तावित करना चाहेंगे, क्योंकि उनके और राजीव गांधी के सोच मे गजब की सास्कृतिक एकरूपता है। दोनों ही साम्प्रदायिक ताकतों को भारत सरकार से बाहर देखने-दिखाने के मुरीद हैं। दोनों की सास्कृतिक समझ एक अफसोसनाक शून्य के सिवा और कही नहीं पहुँच पाती है।

'रामायण' को 'हिन्दुओं की शरीयत' घोषित करने वाले कमलेश्वर बतायेंगे कि 'रामायण' मे किन हिन्दू निजी कानूनों की व्यवस्था की (और कि उनमे से कितनों को वर्तमान प्रधानमन्त्री, या उनके पूर्वज सत्ताधिकारियों के द्वारा भारतीय संविधान मे मान्यता दिलवाई) गई है ?

हवा में तलवार भाजने से भी कही ज्यादा हास्यापद स्थिति होती है, हवा में वैद्यारिक विद्रोह खड़ा करने की। 'रामायण' को 'हिन्दुओं की शरीअत' करार देना खुद की समझ का दीवाला घोषित करना है। दीवालिये को कोई सकट नहीं रह जाता। सारी जवाबदेहियों और जिम्मेदारियों से पल्ला छाड़कर अलग खड़ा हो जाने के लिये ही तो कोई खुद को दीवालिया घोषित करता है। जितनी हिकारत कमलेश्वर भाई में 'रामायण' और 'रामवरितमानस' के प्रति है, अगर तुलसीदास को इस्लाम, कुरान या मुसलमानों से होती, तो वो माग के खाने के बाद मस्जिद में सो रहने की बात नहीं करते। हिन्दू कठसिद्धान्तियों से जो मोर्चा तुलसी ने लिया, कमलेश्वर भाई और हम उसकी, शायद, ठीक-ठीक कल्पना भी नहीं कर पायेंगे। तुलसी साम्राज्यिक कट्टरता नहीं, एक विराट सामृतीक-सामाजिक सवेदना और घेतना के महाकाव्यकार है। उन्हें देश की सस्कृति का शत्रु वही घोषित कर सकता है, जिसे कि महाकाव्यात्मक सवेदना और बौद्धिक मत्सर के बीच कोई फर्क नहीं दिखायी पड़ता हो। 'रामायण' या 'रामवरितमानस' अगर हिन्दू शरीयत होते, तो इन पर लानत फेंककर हिन्दू बने रहने की कोई गुन्जाइश नहीं होती। कमलेश्वर हिन्दू और देश की सस्कृति की निहायत ही भोड़ी तथा विकृत समझ से ग्रस्त हैं। देश की सस्कृति में, वात्सीकि और तुलसीदास की अपेक्षा, उन्हें खुद का सास्कृतिक योगदान ज्यादा दिखाई देने लगा है, तो उनके इस हाल पर सचमुच सिवा तरस खाने के, और किया भी क्या जा सकता है।

'रामायण' भारतवर्ष का सवेदनात्मक महाकाव्य और भारत की सास्कृतिक पहचान का आदिग्रन्थ है। कमलेश्वर बतायेंगे कि 'रामायण' के किन नियम-कानून सिद्धान्तों या आचार-विद्यार का पालन नहीं करने पर किसी हिन्दू को हिन्दू धर्म से बाहर कर दिया जाएगा ? जिस 'हिन्दू शरीयत' की बात कमलेश्वर उठा रहे हैं, वह उनके राजनैतिक आदर्श प जवाहरलाल नेहरू से लेकर राजीव गांधी एण्ड कम्पनी की देन है। 'हिन्दू शरीयत' ('रामायण' या 'रामवरितमानस' नहीं) मुस्लिम सिख, पारसी, ईसाई शरीयता के साथ, 'भारतीय संविधान' के पृष्ठा मे कुण्डली मारे बैठी है। कमलेश्वर गीदड का शर की माद में खोज रहे हैं। 'हिन्दू काडबिल काग्रेसी हुकूमत की देन है, 'रामायण' की नहीं। उन्ह कौन समझाये कि धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीविता का प्रदर्शन यदि सोच-विद्यार से ही निष्पक्षता की सरहद छूने लगे, तो इसे किसी राजीव गांधी- जैसे वैद्यारिक दीवालिये के यहाँ ही मान्यता मिल सकेगी, प्रबुद्ध लोगों में नहीं। 'रामायण' को 'मुस्लिम शरीयत' के बरअक्स 'हिन्दू शरीयत' कहना सस्कृति, साहित्य और विद्यार की समझ से शून्य होने का सबूत पेश करना है।

कमलेश्वर बतायेंगे कि 'रामायण' सीरियल प्रस्तुत करते हुए, हिन्दुओं का इतिहास बता रहे होने का दावा कहाँ किया है रामानन्द सागर या राजीव गांधी ने ? जब कमलेश्वर ने इतना बाकायदे मान लिया कि 'रामायण' सीरियल रामानन्द सागर ने कर्ज से उबरन क लिये तैयार किया, ^१ तब इसमे अद्यानक 'हिन्दू पुरुरुत्यानवाद' का लक्ष्य कहाँ से आ गया ?

दूसरे जब दावा हो कि 'रामायण' एक पौराणिक आख्यान मात्र है, तब उसके इतिहास (भी) होने का आरोप क्यों ? और कमाल कि रामानन्द भाई 'रामायण' को हिन्दू इतिहास और 'हिन्दू शरीयत' में बदलकर भी कमलेश्वर के प्यारे भाई, दोस्त और बेहद जिम्मदार प्रगतिशील हमसफर ही हैं। जबकि उनका 'रामायण' सीरियल हिन्दुओं को एक-के-बाद अनेक ऐसी गलत जानकारियों दिये ही चला जा रहा है, जिससे न सिर्फ यह कि पहल से ही कट्टर धार्मिक हिन्दू और ज्यादा तात्पुर्वी हिन्दू बनते, बल्कि दूसरे धर्म वाले भी भड़कते जा रहे हैं।

यहाँ भी कमलेश्वर हमें कुछ नहीं बताते कि हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं के पुख्ता होने पर दूसरे धर्मों के लोगों के भड़क उठ होने की दलील से आखिर वो हमें समझाना क्या चाहते हैं ? जिन मुसलमानों के मजहबी जज्बात 'कुरान' पढ़ने से पुख्ता होते हों, क्यों न उन्हें भी दूसरे धर्मों के लोगों को भड़का रहे होने के जुर्म में सम्मन जारी कर दिया जाए ? धार्मिक भावनाओं का पुख्ता होना ही अगर साम्प्रदायिक जहरबाद की जड हो, तब सिर्फ हिन्दू ही क्यों, अन्य धार्मिक समुदायों के भी उन तमाम धार्मिक ग्रन्थों को क्यों नहीं साम्प्रदायिक करार दिया जाये, जिनसे किसी समुदाय के लोगों की धार्मिक भावनाएं पुख्ता होती हो ?

भाई रामानन्द सागर से पहले, थोड़ा खुद के गिरेबान में भी झाक लिया होता, कमलेश्वर भाई, तो कुछ बुरा न होता। कुरान से मुसलमानों बाइबिल से ईमाइयों, जाबेस्ता से पारसियों और गुरुग्रन्थ साहब से सिखों की धार्मिक भावनाय पुख्ता होती हैं कि नहीं ? तब ये सारे ग्रन्थ हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को भड़काने वाले तत्वों में शुमार क्यों न कर लिये जाएँ ? या कि सस्कृति का सकट अथवा साम्प्रदायिकता का खतरा सिर्फ हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं के पुख्ता होने पर ही उत्पन्न होता है ?

कमलेश्वर का सारा वैद्यारिक प्रलाप, इतिहास तथा सस्कृति की गलत समझ की उपज है। सत्ता के सास्कृतिक गलियारों की पूर्व-यात्राओं ने उनकी समझ को काठ कर दिया है। धर्मनिरपेक्ष बौद्धिकता के मुगालते में बड़े-बड़े सास्कृतिक-वैद्यारिक सवालों को उठा रहे होने की जो भ्राति वो निर्मित करना चाहते हैं, यह उस पूरे खोखल को उजागर कर रहा है, जो सत्ताकेन्द्र के परकोटा के भीतर की परिक्रमाओं के दौर में निर्मित हुआ है।

कमलेश्वर भाई की जानकारी के लिये इतना बताना जरूरी होगा कि पुराण और किवदन्तियों को भी देश में ही स्थान हुआ करता है। आदमी का कुछ भी एक निश्चित देश, काल और समाज में घटित होता है। भूगोल देश के बाहर की दीज नहीं। न इतिहास, विज्ञान या सस्कृति। भाई रामानन्द सागर के दशरथ ने जो भौगोलिक स्थान अपने राज्य में बताये वहाँ क्या सूर्य की किरणों की पहुँच नहीं ? जब जहाँ तक भूर्य की किरणे जाती हैं वहाँ तक का राज्य महाकाव्यात्मक उकित माना जा सकता है, तो राज्य के भूगोल में ही ऐसी क्या खराबी आ गई कि उसे हिन्दू साम्राज्य के इतिहास के पुनरुत्थान की गाजिश के

स्मिवा और कुछ भी नहीं माना जा सकता ?

इतिहास की निहायत सतही समझ ही कमलेश्वर को इतिहास की तारीखी हड्डो से बाहर झाँकन में असमर्थ बनाती है। ऐतिहासिक प्रमाण ही आत्यतिक प्रमाण नहीं हुआ करते हैं। वस्तुओं का होना स्वयं में ही प्रमाण है। इतिहास के सीमित दायरे मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान या सस्कृति के निषेध में इस्तेमाल नहीं किये जा सकते। आदमी का जाने कितना बड़ा ससार इतिहास की द्वारदीवारियों के बाहर है।

इतिहास से भी कहीं ज्यादा मूल्यवान होती हैं वो निधियाँ, जो इतिहास की बैसाखी के बिना ही मानव समाज का एक शाश्वत हिस्सा बन जाती हैं। जो अपना प्रमाण स्वयं हो, उसे इतिहास से ऊपर मान लेने में ही समझदारी है, इतिहास से बाहर करने में नहीं, क्योंकि ऐसी वस्तुओं को इतिहास से बाहर करने के चक्कर में आदमी अक्सर खुद को समझदारों की विरादरी से बाहर कर लेता है, जो कि वृहत्तर मानव समाज का अपरिहार्य अग बन चुकी हो।

सस्कृति की पहली पहचान मानव समाज की जातीय अस्मिता और अवधारणा की पहचान में है। एक वृहत्तर मानव समाज की जातीयता देश के भूगोल और इतिहास के सारभूत तत्वों को अपने में अन्तर्लियित करते हुए निर्मित होती है। सस्कृति जातीयता की राष्ट्रीय धरोहर हुआ करती है। भारतीय सस्कृति की अनन्य विशेषता ही इस तथ्य में है कि यहाँ राष्ट्रीय जातीयता का सवाल सारी साम्रदायिक जातियों से ऊपर रहा है।

धर्म स्वयं में साम्रदायिक तत्व नहीं, बल्कि मनुष्य की आध्यात्मिक-सामाजिक भावनाओं का प्रतीक है। यही भारतीय सस्कृति का सारतत्व है। कमलेश्वर की देश की, सस्कृति की अवधारणा क्या है, कुछ स्पष्ट नहीं। वो प्राय सस्कृति में प्रक्षिप्त उन विकृतियों को 'छायादार सास्कृतिक टुकड़ों' का दर्जा देते पाये जाते हैं, जो किसी बड़ी नदी की तरफ निकाले गये पनालों से ज्यादा कुछ नहीं हुआ करते। समझदार को चाहिये कि वह वस्तु नहीं, बल्कि वस्तु को विकृत करने वालों पर उगँली उठाये।

समझना मुश्किल है कि 'रामायण' और 'रामचरितमानस' से किस देश की सस्कृति को सकट होने का रोना रो रहे हैं, कमलेश्वर ? भारत की सस्कृति को तो कुरान, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहब या जावेस्ता वगैरा नाना धर्मग्रन्थों के अनवरत पाठ से भी कभी कोई ज्यकट नहीं हुआ। धर्म की भिन्नता से कोई सकट न होने के वैद्यारिक औदात्य का ही नाम है, भारतीय सस्कृति ' और 'रामायण' इस सस्कृतिबोध का आदि महाकाव्य है कि सारी वस्तुओं से ऊपर है, सवेदना और कर्मणा ' 'रामायण' से सस्कृति को सकट होने की बात कहकर कमलेश्वर किस वैद्यारिक विद्रोह की अगुवाई करना चाहते हैं ?

रामायण के 'रामचरितमानस' के रूप में दोबारा लिखे जाने को खतरनाक घोषित करना भी कुछ कम खतरनाक नहीं कमलेश्वर भाई ! जब आपने मान लिया कि 'रामायण' को 'रामचरितमानस' के रूप में तुलसीदास ने उस समय दोबारा लिखा जब

हिन्दू जाति पददलित थी- और कि 'तुलसीदासकृत रामायण' ने हिन्दुओं को वह मनोबल दिया, जो मुगलों ने तोड़ दिया था- तो इससे आखिर कुल मिलाकर कहना, या सिद्ध क्या करना चाहते हैं आप ?

क्या यह कि यूकि हिन्दू जाति का खुद को पददलित होने से बचाने का सर्वार्थ ही अपने-आप में अवैज्ञानिक और इतिहास, या स्सकृति-विरोधी था, इसलिये 'रामवरितमानस' भी स्वत ही इतिहास, विज्ञान तथा स्सकृति-विरोधी हो गया ? या हिन्दुओं को टूटन और परास्तता की भावनाओं से उबारना अथवा मुगलों के अत्याधारों के दौरान हिन्दुओं की मानसिक रक्षा का कवच बन जाना, कोई सास्कृतिक गुनाह है ?

उनके कथन से साफ़ झलकता है कि भारत के सम्पूर्ण रूप से मुगल सल्तनत में अन्तर्लयन और हिन्दुओं के इस्लाम में पूरी तरह धर्मान्तरण की प्रक्रिया में वाल्मीकि और तुलसीदास के द्वारा डाल दी गई बाधाओं का, उनको मुगल शहशाहों से भी ज्यादा अफसोस है । 'रामायण' और 'रामवरितमानस' पर जितना अफसोस और एतराज कमलेश्वर भाई को है, इतना अगर मुगल शहशाह अकबर को हुआ होता, तो तुलसीदास 'रामायण' को दोबारा मुगल शहशाह के घहेते अलम्बरदार राजा टोडरमल की छत्रछाया में निर्विघ्न लिख नहीं पाते । न दाराशिकाह को 'रामायण' पढ़ सकने की आकाश में सस्कृत सीखने वाराणसी जाने की जरूरत पड़ती ।

'रामायण' और 'रामवरितमानस' से 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद' का खतरा होने के अन्देशों का काज्ञ खोजना भी कठिन है, क्योंकि अगर इसके पीछे हिन्दू राष्ट्र या 'हिन्दू साम्राज्यवाद' का महास्वप्न बालठाकरे अथवा बाला जी देवरस प्रभूति हिन्दू पुनरुत्थानवादी देख भी रहे हैं, तो यह पूरा होगा कैसे ? भारतीय इतिहास ही क्यों, पौराणिक मिथकों में भी हिन्दू साम्राज्यवाद का कही कोई वजूद नहीं रहा है, हिन्दू खुद का स्वराष्ट्र ही बरकरार नहीं रख पाय, साम्राज्यवाद की तो कौन कहे ।

दरअस्त कमलेश्वर शब्दों को खुद के मन्तव्य में घलाते हैं, उनके वस्तुगत अर्थ में नहीं । अन्यथा कौन नहीं जानता कि पुनरुत्थानवाद का मतलब पुराने साम्राज्यवाद का पुनर्स्थापन नहीं, बल्कि अपने जातीय अथवा राष्ट्रीय गुण-दोषों का पुनर्मूल्याकल होता है ।

पुनरुत्थान की अवधारणा सिर्फ राजगद्दी के पायों तक सीमित नहीं । इसके तार किसी देश के समस्त जाम-जिम्म नाम्ननिम्म अन्त क्षेत्रों तक भी जाते हैं । फ्रास का पुनर्जागरण काल लुइयों की राजगद्दी पुख्ता करने का काल नहीं माना जाता है । न राजा राममोहन राय दयानन्द सरस्वती या रामकृष्ण, विवेकानन्द-बकिम- सुब्रमण्यम भारतीय का पुनर्जागरण 'हिन्दू तख्त' की सकल्पना का प्रतीक रहा है । समझना मुश्किल है कि 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद' का खतरा घोषित करके कमलेश्वर हमे समझाना क्या चाहते हैं ।

हिन्दू साम्राज्यिकता का वह कौन-सा दौर रहा है इतिहास में जिसे अब हिन्दू फिर से वापस लाना चाहते हैं ? जबकि हकीकत है यह कि हिन्दू साम्राज्यिकता का सारा

सिलसिला उस मुस्लिम साम्राज्यिकता की उपज है, जो देश के ऊपर मजहब को रखकर पाकिस्तान का नक्शा तैयार कर चुका। देश का विभाजन 'रामायण' या 'रामचरितमानस' के आधार पर नहीं हुआ। हिन्दू साम्राज्यिकता कोई पौराणिक या परम्परागत वस्तु नहीं। हिन्दू-मुस्लिम या सिख, प्रत्येक साम्राज्यिकता के बीज ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बोये और उसके विरासतदार इस फसल को पकाने और बटोरने का ध्या कायम रखे हुए हैं। अफसास कि कमलेश्वर भाई को 'रामायण' और 'रामचरितमानस' में तो हिन्दू साम्राज्यिकता और देश की सस्कृति को सकट के बीज बिल्कुल साफ-साफ दिखाई दे जाते हैं, लेकिन काग्रेसी हुकूमत धर्मनिरपेक्ष दिखती है।

अपनी इस खोखल राजनैतिक-सास्कृतिक समझ के तहत ही कमलेश्वर उस सत्ताकेन्द्र से साम्राज्यिक दलों पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग करते हैं, जो कि सारे साम्राज्यिक उपकरणों का मुख्यालय है। जिसने कि सुनियोजित साजिश के तहत देश की जनता को साम्राज्यिक-आर्थिक मनोन्माद की दिशा में धकेल दिया है, ताकि उसकी सामाजिक-आर्थिक सघर्ष की चेतना का कुचला जा सके।

'दाना दुश्मन अच्छा, नादान दोस्त बुरा' यो ही नहीं, अनुभव से कहा गया। अल्पसम्भ्यक वर्गों का धर्मनिरपेक्ष खुदाई खिदमतगार बनने के घक्कर में कमलेश्वर भाई ने मुगल शासकों के उस पूरे राजनैतिक सोच का भी भट्ठा बिठा दिया, जो गगा-जमुनी सस्कृति का बुनियादी आधार रहा है। राणा प्रताप का मनोबल 'रामचरितमानस' के तोतापाठ के बाद की वस्तु नहीं। कुछ ह हिन्दुओं में, जिसे किसी भी हाल में नहीं तोड़ा जा सकता, बल्कि इसमें जोड़कर ही मुगल सत्त्वनत को भी एक सुरक्षा कवच दिया जा सकता है, इस समझ न ही मुगलमानों की हिन्दुओं से सहभागिता के रास्ते खोले और गगा-जमुनी सस्कृति का प्रवाह तीव्र किया। एक म्यान में की दो तलवारों नहीं, बल्कि एक देश के बाशिन्दा की तग्ह हमें रहना है यह राजनैतिक-सामाजिक सोच ही हिन्दू-मुस्लिम ग्रन्ति आज सहभागिता का आधार रहा है और इससे विपरीत सोच ही हिन्दू-मुस्लिम साम्राज्यिक झगड़-फिसादों की जड़। अफसास कि कमलेश्वर भाई का सोच दूसरी तरह का है।

एक नहीं संकड़ों हजारा उदाहरण है मुसलमानों के द्वारा 'रामलीला' में हिस्सा लिये जाने के ओर इससे कभी काई सारकृतिक सकट उत्पन्न नहीं हुआ। कमलेश्वर भाई कहना क्या चाहते हैं ? 'रामायण' और 'रामचरितमानस' का प्रसारण बन्द हो जाने से हिन्दू साम्राज्यिकता के सारे खतरे जाते रहेगे ? और 'दूरदर्शन' से 'अल्लाह तू दिखा दे करिशमा कुरान का ' का प्रसारण होता है इसके बारे में क्या विचार है उनका ?

दरअसल हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द के रास्ते कॉट हैं ऐसे साम्राज्यिक सोच वाले तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी जो विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक दूसरे के धार्मिक विश्वायों मूल्यों और परम्परागतों के विस्तृत तृफान उठाने की सलाह देने का बौद्धिक ध्या चलाते जा रहे हैं। जबकि भारतीय संस्कृति का मूल आधार एक-दूसरे के धर्म, मूल्य और

विश्वासो के प्रति सहिष्णुता ही नहीं, समादर की भावना है। मनुष्य स्वय के साक्षात्कार के लिये स्वतंत्र है। उसकी उपासना-पद्धति क्या हो, यह पशुबल से तय करने की वस्तु नहीं, इस वेचारिक उदारता का ही नाम रहा है- भारतीय संस्कृति । कमलेश्वर का संस्कृति-बोध भारत सरकार, या कहे कि राजीव गांधी, के संस्कृतिबोध से ज्यादा दूर नहीं। फर्क सिर्फ इतना है कि एक संस्कृति के राजनीतिक इस्तेमाल में माहिर और समर्थ है- दूसरा सिर्फ झूठे और नकली विद्रोह का हवाई झण्डा घुमाने में।

सवाल है यह कि जिस दौर में 'रामायण' का धारावाहिक प्रसारण हो, उसी दौर में यदि १२३ लाशों का मेरठ शहर और गगनहर में जन्म हो रहा है, तो इससे साबित क्या होता है? क्या यहकि देशकी धर्मनिरपेक्ष सरकार हिन्दू-मुस्लिम सौम्याद्व के लिये प्राण-प्रण से जूझ रही है, लेकिन 'रामायण' का प्रसारण उसकी सारी धर्मनिरपेक्ष योजनाओं तथा प्रशासनिक अव्यवस्थाओं की धजिजया उड़ाता हुआ, मुसलमानों की लाशों को जन्म दिये जा रहा है?

और कि अगर, दूसरी तरफ, बाबरी मस्जिद का सवाल इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ मेडिकल साइंस में उठाने वाले दाढ़ीजार हाजियो^१ की जमात हिन्दुओं के खून की हाली खेल रही हो, तो भी यज्ञोपवीत, तिलक और कलश की राजनीति खेलने वाला, बेचारा धर्मनिरपेक्ष प्रधानमंत्री सिवा टुकुर-टुकुर ताकने के और कुछ नहीं कर पाता है?

कमलेश्वर अपने प्रगतिशील हमसफर रामानन्द भाई और धर्मनिरपेक्ष प्रधानमंत्री का साफ बचाते हुए, साम्प्रदायिक दगों की बला तास्सुबी हिन्दुओं और हाजिया के गले मढ़ देते हैं। जबकि सारे तास्सुबी साम्प्रदायिक तत्व कायेसी सत्ताकेन्द्र के छायादार टुकड़ा के भरोसे ही फल-फूल रहे हैं। इस दृष्टि से 'भारतीय सविधान' विशाल साम्प्रदायिक वटवृक्ष से कम नहीं। जिन छायादार सांस्कृतिक टुकडों का जिक्र कमलेश्वर कर रहे हैं, वो 'रामायण' या 'रामचरितमानस' के सांस्कृतिक टुकड़े नहीं, बल्कि बहुधर्मी सत्ताप्रतिष्ठान के राजनीतिक मायाजाल के साम्प्रदायिक टुकडे हैं।

संस्कृति आदमी के स्वेदनतंत्र को जरूर वैसे ही सीधती है, जैसे कोई नदी धरती को, लेकिन तभी, जब संस्कृति की समझ विकृत और विरुद्धित न हो। जब चतुरता और संस्कृतिबोध का काढ़ा तैयार करने की नीम-हकीमी से बचने का विवक रहे। सरकार को

१- 'यह मैं नहीं कह रहा- यह बात मैंने दिल्ली के आल इण्डिया इन्स्टीट्यूट मेडिकल साइंसेज के परिसर में सुनी थी, जहाँ लोगों के झुड़ दरियाँ उठाये घिलघिलाती धूप में छायादार टुकडे खोज रहे थे। वे लोग अपनी दिमागी राहत के लिये ऐसे ही छायादार सांस्कृतिक टुकडे भी तलाशते हैं। और वही, उसी परिसर के कारपार्किंग वाले टापू में बैठे एक दाढ़ीवाले हाजी जी अपने घार साथियों को बता रहे थे- 'मौलवी साहब कहते थे कि बकरीद के मौके पर बकरे को हलाल भी खुद करना चाहिये, क्योंकि यह सुन्नत है। इससे खुदा के रास्ते पर खून बहाने का जज्बा और हिम्मत पैदा होती है।'

साम्प्रदायिकता के कळधरे से बाहर खड़ा करके, 'रामायण' और रामचरितमानस को स्सकृति के लिये सकट घोषित करने का वैद्यारिक अभियान चला रहे कमलेश्वर भाई से रामानन्द भाई तो, शायद, नहीं, लेकिन हम जरूर पूछना चाहेंगे कि आखिर किस सास्कृतिक सकट की बात कर रहे हैं वो ?

जहाँ तक साम्प्रदायिक विद्वेष का सवाल है, इस काम में कमलेश्वर शहाबुद्दीन या बालठाकर से ज्यादा दूर नहीं रह गये। दूसरों के धार्मिक विश्वासों और सवेदन के प्रति एक उद्भात बौद्धिक उत्तेजना उनमें भी बिल्कुल मौजूद है। फर्क इतना जरूर है कि मियों शहाबुद्दीन और आर्य बालठाकरे की साम्प्रदायिक घृणा सबमुव्य खतरनाक है, लेकिन कमलेश्वर भाई की तास्मुबी बौद्धिक उत्तेजना सिर्फ हवाई !

वह इस हकीकत से बेखबर रहना (या रखना ?) चाहते हैं कि देश की तथाकथित धर्मनिरपक्ष राज्यव्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उत्तराधिकार में कायम व्यवस्था है। विभिन्न धार्मिक समुदायों को आपस में लड़ाकर खुद की घौंधराहट को निर्विघ्न रखने की कल्नीति का प्रतिरोध लोगों के बीच एक-दूसरे के धार्मिक-जातीय विश्वासों और मूल्यों के प्रति सहिष्णुता की भावना जगाकर ही किया जा सकता है, एक-दूसरे की भावनाओं के प्रति असहिष्णु बनाकर नहीं। जब सरकार को यह पता चले कि हिन्दू धार्मिक विश्वासों को मुमलमान और मुस्लिम रीति-रिवाजों या मजहबी जज्बातों को हिन्दू पूरी तरह सम्मान देने लगे हैं और कैसे भी भव्य-रगारग धार्मिक प्रसारणों से लोगों में कोई सामुदायिक विद्रेय नहीं फेलाया जा सकेगा, तो उसकी सारी दूरदर्शनी सास्कृतिक परियोजनाओं के परखच्चे खुद ही उड़ जायेंगे।

अन्यसम्भ्यका म बहुसम्भ्यको और बहुसम्भ्यको मे अल्पसम्भ्यको के धार्मिक विश्वासो के प्रति असहिष्णुता की भावनाओं को भड़काना ही भारतीय स्सकृति के लिये सकट खड़ा करना है। भारतीय स्सकृति का सारतत्व निषेध नहीं, सम्भाव है। भारतीय स्सकृति नाना धार्मिक सामाजिक मूल्यों और विश्वासों के समन्वय की स्सकृति है। भारत सरकार की धर्मनिरपक्षता की तो बात ही व्यर्थ है क्योंकि वह तो अपने सवैधानिक रूप तक में साम्प्रदायिक है। भारतीय स्सकृति मे एसी गुन्जाइश बिल्कुल रही है कि धर्म आदमी की बाधा नहीं बने। लेकिन स्सकृति, इतिहास अथवा ज्ञान-विज्ञान की समझ से निरपेक्ष रहकर भी काई व्याकृत अपने वैद्यारिक विद्रोह मे पूरे देश को शामिल कर ले जाय, ऐसा उदाहरण ढूँढना जरूर मुश्किल होगा।

फिर भी इतना तो हम भी जरूर जानना चाहेंगे कि आखिर भारतीय स्सकृति का वह कौन-सा वैज्ञानिक-ऐतिहासिक स्वरूप है, जिसमें कि रामायण और रामचरितमानस के लिये काई म्यान नहीं होगा ? और कि तास्मुबी होने, स्सकृति को सकट खड़ा करने से बचन के लिये हिन्दुओं को रामायण, रामचरितमानस के अलावा और किन-किन इतिहास तथा स्सकृतिविराधी वस्तुओं का परित्याग करना जरूरी होगा ?

कमलेश्वर यह नहीं कहते कि रामायण और रामचरितमानस का प्रसारण सरकार-

द्वारा हिन्दू पुनरुत्थानवाद को जगाने तथा हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उकसाने के लिये इन्हे साम्प्रदायिक रूप देकर किया जा रहा है। भाई रामानन्द सागर और राजीव गांधी तो अपने आधारभूत रूप से गलत फैसलों के बावजूद प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष हैं। लगता है, कमलेश्वर भाई को साम्प्रदायिक दगों को रोकने का एक ही रास्ता सुझाई दे रहा है- ‘रामायण’ के धारावाहिक प्रसारण को रोक दिया जाना ? किन्तु सवाल फिर यही है कि रामायण का प्रसारण करा कौन रहा है- बालठाकरे, बालासाहेब देवरस या कि राजीव गांधी ?

धर्मनिरपेक्ष वैचारिक विद्रोह के सदर्भ में ये कुछ सवाल नितात स्वाभाविक और जरूरी होगे। बिना इन सवालों का जवाब दिये रामायण और रामचरितमानस को हिन्दू साम्प्रदायिकता का मूल और देश की सस्कृति के लिय स्कृप्त साबित करना उतना आसान तो नहीं ही होगा, जितना कि शायद कमलेश्वर भाई समझ बैठे हैं। अब उन्हे कौन समझाये कि हवाई वैचारिक विद्रोह की धुध ज्यादा दूर या दर तक साथ नहीं दे पाती।

[‘अभिप्राय’ १९८७]

चिट्ठी-पत्री

राजेन्द्र यादव
२/३६, असारी रोड, दरियागाज,
दिल्ली।

२२ अप्रैल १९८८

प्रिय शैलेश,

मैं बाहर चला गया था, इसलिए तत्काल उत्तर नहीं दे पाया। टिप्पणी मिल गई है और यथावत् छपेगी, लेकिन उससे तुम्हारी बुद्धि पर तरस आने की स्थिति नहीं बदली है। धौय-धौय लिखते चले जाने के सन्निपात में तुम किसने एकागी और वास्तविकता-विरोधी हो, वह दयनीय है। 'राम महान हैं' के अतिउत्साह और धार्मिक श्रद्धाभाव में क्या यह बताना जरूरी है कि शबरी के बेर खाने या सीता के विरह में विलाप करने की मानवीयता कृष्ण में कहीं नहीं है ? दुनिया का सर्वश्रेष्ठ बाल-साहित्य जिस व्यक्ति के साथ जुड़ा है, राधा और कृष्ण के सम्पर्ण-प्यार-विरह के सर्वोत्कृष्ट गीत, भक्ति, अध्यात्म का जो एकमात्र आधार है और जिसे हटाने पर सारा भारतीय-साहित्य सिर्फ भूसा रह जाता है, हाँ उसको राम के विलाप की तुलना में तुम-जैसा दुराग्रही ही उड़ा सकता है। कहाँ जाएगे मीरा, सूरदास, घैतन्य, विद्यापति ? और हजारों आँसू रोने वाले लोग ? सद्यमुद्य अब बुढापा तुम्हारी समझ का भी आक्रान्त करने लगा है। तुम्हारा भगवान् तुम्हारे ज्ञानद्यक्षु खोले, इसी कामना के साथ।

सस्नेह,
राजेन्द्र यादव

['किम्बके राम, कैसे राम' लेख के सदर्म म]

इलाहाबाद २१ मई, १९८८

राजेन्द्र भाई,

आपका २८/४ का पत्र पहुँचते ही देख लिया था। सच मानये, बुद्धि पर तरम खाने वाले लोग जाने क्यों बहुत अपने लगते हैं। प्रारम्भ में यह बात नहीं थी। बुद्धि है, यह भ्रम साथ चलता था। ज्यो-ज्यो विशाट से पाला पड़ता गया, निर्बुद्धि होने का अहसास भी गहरा होता चला। कहिये कि हिन्दी में 'सब चलता है' का उदारपथ कायम है, अन्यथा मुझ-जैसे सामान्य से भी गयी-बीती बुद्धि के व्यक्ति को साहित्य में कहाँ इतनी भी जगह होती।

जाने कैसे चल गया इतनी दूर तक खोटा सिक्का। साहित्य ही नहीं, आदमी सम्बन्धी ज्ञान भी शर्मनाक हृद तक उथला है, ऐसा स्वीकारने में अब कोई सक्रोच नहीं। अलबत्ता अब आखिरी दिनों में कोई नया रोजगार बस की बात नहीं। इसलिये, दिन यहाँ काटन है। रोटी भी इधर से ही चलानी है। कुदबुद्धि होने के स्वीकार के माथ, हिमालय की तरफ चल देने का न विवेक है, न ऐसी सहूलियत।

एक लेखक के सघर्ष, ज्ञान और चरित्र की जो अवधारणा सामने रही, उससे कोसों नहीं, योजनों दूर होने का अहसास जरूर है। थोड़ा-बहुत अज्ञान का ज्ञान भी। प्राचीन वाङ्मय, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन, राजनीति, कला, विज्ञान, साहित्य और भाषा आदि ज्ञान की शाखाओं के मामले में शाखामूँगो से भिन्न हालत नहीं। शायद, इसी से उछल-कूद और उद्दण्डता ज्यादा है और विद्यारवान, गहरे अर्थों में बौद्धिक व्यक्तियों की कोटि की गरिमा, सतुलन और विनय का अकाल होने से, एक अधकचरापन भी सतत विद्यमान, लेकिन जैसा कि आपने भी लिखा- बुढ़ापे में ज्ञानघक्षु खुले भी हरिकृपा से, तो अब होना-जाना क्या है। हालाँकि आदमी तय कर ले, तो आखिरी वक्तों में भी मुसलमान होकर दिखा सकता है, लेकिन यहाँ तो सहस्रार कमल सूख चला और स्मृति-निर्वाचिणी झर घुकी है। कभी थी, अब ज्यादा उम्मीद नहीं। लेकिन इस सारे आत्मस्वीकार का मतलब यह नहीं कि बस्ता समेटने का मन बना लिया।

दरबार साहब, काई स्वेच्छा से नहीं छोड़ता। हाजिरी-रजिस्टर में से नाम तो खुद आपको ही हटाना होगा, क्योंकि हमारे लेखे निर्बुद्धि होने का मतलब मौजूद रहने का हक खो बैठना नहीं। हम तो यही मानते आये कि मूरख को विद्वानों के हर्द-गिर्द ही घुसपैठ रखनी चाहिये, क्योंकि रहना उन्हीं के बीच भला, जहाँ खुद का साक्षात्कार सम्भव हो। आप तो कृष्णभक्ति काव्य के महामहोपाध्याय हैं। जानते होंगे कि सतकवि खुद का जड़-मूरख परम सत्ता के और नजदीक घुसपैठ करने के निमित्त ही घाषित करत थे।

सोचिये, तो अच्छा ही हुआ कि हम भी आपकी भाँति बुद्धिमान नहीं हुए, नहीं तो जनवादी लेखक सघ की कार्यकारणी समिति को यह सकट होता कि किस चुनें, अपना अखिल भारतीय उपाध्यक्ष। खुदा ने हमारे ज्ञानघक्षु नहीं उधाड़े, इसमें कुछ बुरा न हुआ।

बिना गवाही के कुछ पक्का नहीं। हम कहें भी कि बुद्धिमानी हम में भी कम नहीं, तो

लोग दन्न से सवाल दाग देगे कि तब सठियाने तक भी कही कोई ठिकाना क्यों न हुआ ? कहिये कि आपके दरबार तक पहुँच कायम है तो कुछ-न-कुछ बुद्धि होगी जरूर । यह बात हम मजाक में नहीं कर रहे ।

बुद्धि पर तरस आने की स्थिति के नहीं बदलने का भतलब भी हमने यहीं लगाया है कि अभी कोई खतरा नहीं । बुद्धि पर भी तरस उसे ही आता है, जिसे स्वभाव पर तरस आता हो । बुद्धि' की खोज में शैलेश मठियानी और मास की खोज में चील के धोंसले को टटोलने में कुछ ज्यादा फर्क नहीं, हमना जिस दिन आपकी समझ में और आ गया, तब, शायद, आपको खुद की बुद्धि पर भी तरस आने लगे ।

जनाब, बुद्धिमानी का भतलब यह कब से हो गया कि हम दावा करें, कि गधों के सींग सिर्फ मुहावरे में ही हुआ करते हैं--- और आप हमारी बुद्धि पर तरस खाते हुए बतायें कि गधे की चार टोंगी मुहावरे के बिना भी होती हैं ।--- हमने कहा था, कृष्ण योगबुद्धि से चलते हैं, राम की तरह व्याकुल नहीं होते ।--- आपको बताना चाहिये था कि कहों, कौन-से वो प्रसंग हैं, जिनमें कृष्ण राम से भी ज्यादा व्याकुल दिखाई पड़ते हैं । हमारी जानकारी में, शैशव के बाद, कृष्ण के व्यवहार में कही कोई व्याकुलता कभी प्रदर्शित नहीं । सवेदना को बरतते भी कृष्ण ज्ञान का आधार नहीं छोड़ते । गोकुल की गोपियों के मन का हाहाकार हो कि महाभारत के महासमर के दारूण प्रसंग- कृष्ण सदैव और सर्वत्र योगबुद्धि से चलने के अभ्यासी हैं । निजी व्याकुलता, विक्षोभ और वेदनाओं को कृष्ण कही कोई प्राथमिकता नहीं देते । वो राम की तरह सामान्य व्यक्ति का सा आचरण कही नहीं करते ।

न वेद, न शास्त्र और न ही लोक-कृष्ण के कर्म की नियामकता स्वयं कृष्ण से अन्यत्र कही नहीं । कृष्ण मनुष्य के विराट की सकल्पना है । एक दृश्य है, जबकि महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका है और गाधारी समरभूमि देखने निकली है । उनका सारा सचित स्त्रीत्व सुई की नोक की भाँति वेघक हो आया है । मर्माहत शेरनी का सा उनका गुर्जना समरभूमि के सन्नाटे को विदीर्ण करता जान पड़ता है । उनकी जिहवा ही जैसे आँख भी बन गई है ।

आपने एक बार नामवर जी से भाषा सीखने की सलाह दी थी । तब आपकी सलाह पर मुझे भी तरस आया था । भाषा में असली धार जीवन के उस सग्राम से आती है, जिसे कोई कवि या लेखक स्वयं के कुरुक्षेत्र में होता है । भाषा के सारे सारतत्व सवेदना के व्यास पर निर्भर होते हैं । पढ़ियेगा, जरा गाधारी का समरभूमि में का विचरण- वहाँ रोंगटे खड़े कर देने का काम स्वयं समरभूमि के हृदय-विदारक दृश्य नहीं, बल्कि वाणी को अपने आहत मातृत्व ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण स्त्रीत्व की अग्नि से प्रज्ज्वलित कर, उसे लपलपाती बिजली की तरह कृष्ण पर छोड़ने वाली गाधारी के शब्द करते हैं ।

समरभूमि में विचरण करती गाधारी एकाएक घुमड़ते, गरजते और दशों दिशाओं को आवृत्त करते बादलों से भरा आकाश होती जाती है और तब अपनी सम्पूर्ण क्रोधाग्नि के नाम पिंडी मि नाम नाम पड़ती है उसा पर कि 'गतके विनाश के कानां तम दो' तम

सबको बचाने मे समर्थ थे, फिर भी तुमने ऐसा नही किया। इसलिये, अब से छतीस वर्षों के बाद, स्वयं तुम भी अनाथों की तरह मारे जाओगे।'

लगता है, सारा कुरुक्षेत्र झुलस उठा है, गाधारी के इस कालसर्पिणी के से महादश से -लेकिन स्वयं वह व्यक्ति अब भी अपनी अगाध प्रशातता में ही स्थित है, जिस पर कि गाधारी की भाषा सारी दिशाओं को लीलने मे समर्थ कालशक्ति की तरह टूट पड़ती है। और तब लगता है कि महाकाल ही कृष्ण का रूप धरे सामने उपस्थित है।

राम होते, तो शायद, अपने द्वारा हुए विनाश कर्म के आत्मस्वीकार पर उतर आते। गाधारी के महाशाप को मर्यादा पुरुषोत्तम की तरह स्वीकार करने की आशा तो राम से भी की जा सकती है, लेकिन शब्द का जैसा विराट कृष्ण में है, राम में कहाँ। राम तो बोल पड़ते हैं। कारण समझाने पर उतर आते हैं। कृष्ण को स्वयं का कर्म प्रश्नातीत है। सशय इस पूर्णकाम को कभी व्यापता ही नही। काल का कोई चरण नही, जहाँ तक कृष्ण की गति न हो।

लेकिन इससे यह तर्क कहाँ निकल आयेगा कि घूंकि कृष्ण मानवदेतना का विराट है, इसलिये राम कुछ भी नही? यह सृष्टि स्वयं की प्रकृति में ही समदर्शिता के नियम से बँधी है। कहाँ योगेश्वर कृष्ण और कहाँ तीन कोडी का व्याध, मगर एक छोर पर आकर, महाकाल को दोनों समान हैं।

पहली बात, राम और कृष्ण मे विरोध की कही कोई कल्पना ही नही भारतीय वाड़मय में। किंवदतियो में यशोदा के द्वारा बालकृष्ण को राम की कथा लोरी के रूप मे सुनाये जाने पर सीता-हरण का प्रसग आते ही, कृष्ण को 'धनुष कहाँ है, मेरा धनुष कहाँ है?' पूछते पाया जाता है। दूसरी बात, सामान्यता और असामान्यता, ये दोनों मानवीयता के ही दो छोर हैं। अब यह सवाल दीगर कि किसमें किसना। घूंकि आपने बाबा साहेब अम्बेडकर के विद्वतापूर्ण लेख का 'हस' में पुनर्मुद्रण करते हुए, अपनी सम्पादकीय टीप के तौर पर राम मे मानवीयता के लोप की पुष्टि की थी, इसलिये कहना पड़ा कि ऐसा नहीं है। अपनी उक्त सम्पादकीय टीप को दुबारा देख लेंगे।

कृष्ण सर्वस्वीकृत मर्यादाभजक नही, मर्यादा की प्रवालित अवधारणाओं की परिधियों के पार के व्यक्तित्व के रूप में मान्य है। आप मर्यादाभजक विशेषण का प्रयोग कुछ इस प्रकार करते हैं, जैसे कृष्ण ने सारी परम्परागत मर्यादाओं के विद्वक्स का सकल्प किया हो। जबकि ऐसा है नही। कृष्ण मर्यादा की श्रेणियों के, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा शूठ-सद्य के नये क्षितिजों के शिल्पी हैं। वो मर्यादा की प्रवालित सूदियों तथा धारणाओं का अतिक्रमण करते हैं, मर्यादा का नहीं।

जिसके व्यक्तित्व की परिधियों माझनवोर से विराट पुरुष तक जाती हों, उसकी मर्यादा बाधना कहाँ आसान होगा? अगर हम कृष्ण को विलासी कहें, तब भोग-विलास और आत्मविज्ञान के बीच समीकरण बिठाना भी जरूरी होगा। कृष्ण के कार्यकलापों को

अमर्यादित सिद्ध करने को कृष्ण द्वैपायन से बड़ी प्रतिभा जरूरी होगी क्योंकि मर्यादा भी सापेक्ष है। पोखर और सागर की न सीमाएँ एक होगी न मर्यादा। ज्ञान में गीता का अतिक्रमण किये बिना, भोग में कृष्ण को तर्कों से नापना सम्भव नहीं।

लेकिन जहाँ तक वे अधिक मानवीय भी हैं, राम की तरह लीप-पोतकर तैयार किये गए मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं का सवाल है- राम के मामले में भी बताना जरूरी होगा कि जो अरुचिकर, धिनोना और अमानवीय है वही लोकधर्म और राजधर्म, दोनों का सबसे बड़ा प्रतिमान कैसे मान्य हो गया? क्या हम मानें कि राम के अमानवीय, अरुचिकर, धिनोने और लीप-पोतकर तैयार किये गये छद्ममूर्प को हजारो-हजार वर्षों की कालावधि में सिर्फ दो ही विद्वान पहचान सके- एक बाबा साहब अम्बेडकर और दूसरे, सम्पादक 'हस' जनवादी श्री राजेन्द्र यादव?

अधश्रद्धा और अधविरोध, दोनों खतरनाक हैं, क्योंकि इसके रोगी स्वयं के पूर्वग्रहों के प्रति सर्वमान्यता की माँग करते पाये जाते हैं। बाबा साहब की विडम्बना यही है। वे राम का सिर्फ खुद अरुचिकर, अवैध, धिनोना, बर्बर और अमानवीय मानकर सतुष्ट हाने में असमर्थ रहे। उन्होंने बाकायदे आहवान किया कि लाग भी ऐसा ही माने। यही आकर यह बुनियादी सवाल उपस्थित होता है कि- उद्देश्य क्या है?

कुछ भी हित से ऊपर नहीं। राम-कृष्ण की कैसी भी श्रीछालेदर में कोई हर्ज नहीं, अगर कि इससे हित होता हो। लेकिन तब बताना जरूरी होगा कि राम-कृष्ण के प्रति अनुराग और आस्था के कारण किन्हीं लोगों की या किन्हीं लागों के द्वारा क्या-क्या सामाजिक क्षतियों हो रही हैं।

सैकड़ो-हजारों वर्षों से समाज के एक वर्ग को जा दलितो-अपमानितों का जीवन व्यतीत करना पड़ा है इसके मूल में सवर्णों की राम और कृष्ण में अनुरक्ति-आस्था ही बुनियादी कारण है -या कि इस अमानवीय, घृणित तथा बर्बर शापण के कुछ अन्य कारण भी मौजूद रहे हैं?

क्या गजब है कि बाबा साहब अम्बेडकर उस कुलीनतावादी, सामतवादी और पूजीवादी शोषण-उत्पीडक वर्ग पर कोई छोट नहीं करना चाहते, जो कि दलितों के सारे दमन-उत्पीडक का कारण रहा है। आपत्ति का विपय यह नहीं कि बाबा साहब राम-कृष्ण की कट्टु आलोचना करते हैं, आपत्ति उनके धिनोने उद्देश्य को लेकर है। अगर बाबा साहब समाज के हित में यह कार्य कर रहे हाते, तब वो 'रामायण' और 'महाभारत' के गहरे विवेचन में जाते। हमें बताते कि राम और कृष्ण के कारण भारतीय समाज में कुलीनतावादी शक्तियों का उदय और विकास हुआ। और कि राम-कृष्ण या उनके निमित्त से वाल्मीकि और वेदव्यास ने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे सर्वण हिन्दुओं के अवर्णों के उत्पीडन और शोषण के लिये प्रेरित किया। रामनामी और कृष्णनामी चादरे ओढ़कर छाकुओं के गिरोह लूट और कर्त्तव्य करते फिरें, तो इसमें राम और कृष्ण की भागीदारी है—

साफ है कि बाबा साहेब अवरों के उत्पीड़न और शोषण तथा उनकी प्रताड़ना के सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों की तह में जाने से बचते रहे, क्योंकि तब उन्हें सामाज्यवाद-पूँजीवाद के उस वर्तमान ढाँचे पर भी प्रहार करना जरूरी होता, जो दलित वर्ग के बद व्यक्तियों को अपने प्रभुसत्तावर्ग का सिपहसलाल इसी इरादे में बनाता है कि वो दलित वर्ग के शोषण-उत्पीड़न के वस्तुगत सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों के प्रति व्यापक जन-समाज को सद्येत करने की जगह, वर्णवोद, सम्प्रदायवाद अथवा जातिवाद के ऐसे नये-नये नुस्खे ईजाद करें, जो कि सामाज्यवाद और पूँजीवाद के अमानवीय, बर्बर तथा धिनौने घरित्र के प्रति लोगों के सद्येत होने की प्रक्रिया को बाधित कर सकें। ऐसा अकारण नहीं कि बाबा साहेब अम्बेडकर अपने समय के शोषकों-उत्पीड़कों के द्वेषरे बेनकाब करने की जगह, 'रामायण' और 'महाभारत' की तरफ छलांग लगाते रहे। ब्रिटिश सामाज्यवाद तथा देशी सामाज्यवाद के बीच गँठजोड़ कायम करने वाली शक्तियों ने किस कीमत पर- और किस उद्देश्य से- उन्हें अपनी तरफ आने का रास्ता दिया है, इतना इत्यं बाबा साहेब को बिलकुल था।

अफसोस कि जनवाद और प्रगतिवाद का दावा रखते भी, आपने बाबा साहेब के उन व्यामोहों की तरफ छाँकने से खुद भी इकार किया, जिन्होंने उन्हें एक राष्ट्रीय सामाजिक व्यक्तित्व का विस्तार देने की जगह, वर्णवाद का मसीहा बनाकर छोड़ दिया। बहरहाल इस बहस को यहाँ रोकते हुए, फिर जोर देकर यही कहना है कि जहाँ तक मनुष्य के सामान्य लोक-व्यवहार का प्रश्न है, वहाँ राम, कृष्ण से बड़ा प्रतिमान है। रह गया कृष्ण काव्यों का प्रश्न, राम की तरह का इकल्हरा और सीमित व्यक्तित्व नहीं हैं कृष्ण का। राम लीला-पुरुष नहीं हैं। वहाँ न गोपालों-गोपियों को कोई क्रीड़ागान है और न राधा-मीरा की कोई गुजाइश। जो जितना विराट उसकी मनरोधी मूर्ति रखने के रास्ते भी उतने ही सुगम होंगे। अलबत्ता आपके इस तर्क से सहमत नहीं कि कृष्ण अध्यात्म का एकमात्र आधार है। अध्यात्म के क्षेत्र में कृष्ण राम के बाद की वस्तु है। कृष्ण, भारतीय मिथ्यों की दृष्टि से, राम का ही विस्तार है।

वाल्मीकि और वेदव्यास, ये कोई रहे भी हों, या नहीं रहे हों, इनके नाम से जो-कुछ रह गया है, उसमें राम और कृष्ण, ये भारतीय स्सकृति ही नहीं, मेधाकि भी मेरुदण्ड हैं। ये ऐसे कल्प-मिथ्यक हैं, जिनको केन्द्र में रखकर, एक पूरी प्रजाति ने अपनी आकांक्षा, आस्था और सवेदनाओं के ततुजाल बुने हैं। जो वस्तुएँ करोड़ों-करोड़ लोगों की अस्मिता का प्रतीक बन जाएँ, उन पर कीचड़ उछालने से पहले, अपने इरादे और औकात, दोनों की टोह जरूरी है। अगर कोई ईसा या मुहम्मद साहब को उद्यक्त का या धिनौना साबित करना चाहे, तो यह सबसे प्रथम उसकी उचककई-उजबकई का सबूत होगा, क्योंकि इसके पीछे समाज के शुभ की दिता तो नदारद, लेकिन स्वयं की कुण्ठा और कुत्सा का विस्फोट मौजूद होगा।

इसमें कहाँ आपत्ति होगी कि बाबा साहेब अम्बेडकर के प्रकाण्ड पाण्डित्य की तुलना में शैलेश मटियानी की बुद्धि को हास्यास्पद करार दिया जाय, लेकिन इतना फिर दोहराना

चाहूँगा कि विद्रोह खतरनाक है, अगर कि उद्देश्य विग्रह उत्पन्न करना हो ।

माफ करें, साहब, 'जिसे हम मानें, सो सबसे ऊपर और जिसे हम नहीं मानें, सब जजाल' की बुद्धिमानी में हमारा साझा सम्भव नहीं । हम तो अब भी यही कहेंगे कि बिना सोचे-विचारे तो भिड़ों के छत्तों पर ढेले फेंकना भी ठीक नहीं, क्योंकि छत्ता बनाने में सिर्फ कृत और सामग्री ही नहीं, बल्कि अस्तित्व के सवालों की भागीदारी भी हुआ करती है । जैसा कि पहले भी कहा, राम और कृष्ण को केन्द्र में रखकर एक पूरी प्रजाति हजारों वर्षों से अपने सवेदनों का महास्वरूप रखती आई है । इन्हें छेड़ने से पहले, उद्देश्य बताना जरूरी होगा और उद्देश्य में कल्याण की जगह, कुत्सा की भूमिका प्रबल होगी, तो इससे सिवा बिगाड़ के कुछ बनेगा नहीं ।

जहाँ तक अपना सवाल है, कोई राम-कृष्ण के पुतलों का जुलूस निकाल कर, उन पर कीचड़ उछालता-आग लगाता फिरे, तो भी कोई आध्यात्मिक-बौद्धिक कष्ट नहीं व्यापना, क्योंकि हमें अध्यात्म कोई मूर्ति-सरीखी वस्तु नहीं, बल्कि आत्मा के काव्य का प्रतीक है । लेकिन समाज की आस्था और अस्मिता के सवालों को छेड़ते, वैसी ही गहरी दृष्टि का होना भी जरूरी है, जो कि व्यक्तिगत कुण्ठा या कुत्सा नहीं, बल्कि मानव समाज के हित की चिन्ता में से जन्म लेती है । जिसके पीछे कि मानव-मात्र के हित में किये सघर्षों का आलोक विद्यमान होता है । सचमुच अफसोस है कि बाबा साहेब का लेख पुनर्मुद्रित करते हुए जो सम्पादकीय टीप अपने लगाई, उसमें वैसी समझ और दृष्टि का लोप ही था, जो प्रत्येक गम्भीर सवाल के पूर्वापर, सारे पक्षों को प्रासारित की दृष्टि से देखते चलने का विवेक जगाये ।

इस संदर्भ में प्रख्यात विदुषी रोमिला थापर का जो रामकथासम्बन्धी लेख 'सौंधा' में एहुने लो दिया था आपने, वह समग्री-स्कल्पन की दृष्टि में प्रशसनीय जरूर है, लेकिन 'सी दृष्टि का कोई विद्वन हमे नहीं नि-', पाया लेख में जो 'रामायण' -जैसे महाकाव्य के अपने तत्कालीन तथा परदर्ती समाज में प्रनिष्ठायित होने वे क्षमता का सम्मक्ष आकलन नहरने को जरूरी होगी । इसमें मनुष्य के सवेदना और उसकी सामाजिक स्थितियों के सवालों को परम्परागत जीवनमूल्यों से जोड़कर देखने की कोशिश ज्यादा नहीं । न वैसी क्षमता का ही कोई आभास कही मिल पाता है, जो वस्तु कोउसके पूरे सदर्भ में देखने को जरूरी हुआ करती है । लेकिन आपत्तिजनक उसमें कुछ नहीं, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति शोधपत्र की है, बाबा साहेब अन्वेषकर की भाँति के प्रतिशोध-एन्ऱ की नहीं ।

रामकथा के अनेकानेक रूप उपस्थित करते हुए अगर रोमिला थापर ने भी 'रामायण' या 'रामचरितमानस' के निषेध और राम-कृष्ण की पूजा करने वालों को राम-जैसे उच्चकों, चरित्रहीनों और बर्बरों की पूजा से बचने की हिदायत दी होती, तो हम भी यह सवाल जरूर करते कि पहले किससे बचें ? कुण्ठा, कुत्सा और विद्रेष का जहर उगलती रोमिला से कि राम से ?

आपने खुद वह लेख ध्यान से पढ़ा हो, तो देखा होगा कि रोमिला ने राम-सीता के

उनकी एक स्थापना जरूर ध्यान आकर्षित करती है, जिसमें उन्होंने 'रामायण' के प्रारम्भ तथा अन्त के अध्यायों में प्रक्षिप्ति की आशका प्रकट की है। हालांकि अपना मानना यही है कि वाल्मीकि राज्य के चरित्र की विडम्बनाओं का साक्षात्कार करना चाहते हैं। रामायण में राज्यविहीन राम और घकर्वर्ती सशाट् श्री राम के बीच, सवेदना के स्तर पर अन्तर स्पष्ट हैं। सीता के हरण पर विलाप करते राम को वैदेही को स्वयं अरण्य में खदेड़ते देखना, राज्य की विडम्बना का साक्षात्कार करना ही होगा। बहरहाल इस प्रसंग को अब यही समाप्त किया जाय, क्योंकि फिर आपका कहा सब साबित हो रहा है।

ऐसा है साहब, कि आलाप और मिलाप, ये दोनों ही लम्बे खिंचते हैं। अब यह आपके छोर की बात कि हमारे कहे को किस श्रेणी में रखना चाहेंगे। हमने एक ढीठता जरूर सीखी है। वो यह कि मूर्ख कहे या समझे जाने के डर में धूप नहीं पड़ रहना, क्योंकि जैसे विद्वता, तैसी ही 'मूर्खता' भी अपने में समेट कर रखे रहने की वस्तु नहीं। और इतना तो आप भी मानेंगे कि विद्वान् को सबसे गहरी टक्कर वज्रमूर्ख ही दिया करता है? खुद को पहली और हमें दूसरी श्रेणी में रखते चलें, इसी में हमारी भलाई होगी।

आपका अभगवान आपको सदा हमारे प्रति कृपालु रखे, यही प्रार्थना है।

आपका निर्बुद्धिदास,
शैलेश मटियानी

पुनश्च बुढाने का क्या जिक करिये। काल भी कमजोर को ही दबाता है। धूप भी काल का ही अग है, लेकिन उसने जहाँ हमारे वालों को स्खड़ और सफेद, तहाँ आपके केशों को और ज्यादा घमकीला तथा कज्जर बनाने में दिलचस्पी दिखाई है। हमें सतोष यह है कि घलिए, हमारी बुडमस ने ही सही, आपके कृष्ण-प्रेम को प्रकट होने का अवसर तो उपस्थित किया।

प्रिय शैलेश,

७-८-८७

तुम्हारा १७-७-८७ का पत्र और रामायण सीरियल पर लिखे भेरे लेख पर तुम्हारी लम्बी प्रतिक्रिया भी मिली अच्छा मुझे यह लगा कि तुमने अपनी प्रतिक्रिया की एक प्रति मुझे भी भेज दी -यह तरीका सिख धर्म के अनुकूल है। कोई सिख न तो पीठ पीछे से मारता है और न सोते हुए को। वह हमेशा सामने से हमला करता है और जगाकर। (आतंकवादियों की बात दूसरी है।)

तुमने इसे जहाँ भी छपने भेजा है, उन्होंने अबतक भेरी कोई प्रतिक्रिया नहीं माँगी है। न भी माँगी तो भी ठीक है, पर मैं तुम्हारे दूध-से साफ व्यक्तित्व को हमेशा स्वीकारता रहा हूँ -मतभेदों के बावजूद इसीलिए तुम पर एक अधिकार भी मानता रहा हूँ और मानता रहूँगा जब जरूरत होगी या जरूरी होगा -मैं हमेशा तुम्हें आवाज दूँगा।

इसीलिए भेरी व्यक्तिगत और नैतिक जिम्मेदारी है कि तुम्हे उत्तर दूँ और गलतफहमी को (विवाद के लिए नहीं) साफ करूँ।

१४-८-८७

तुमने बड़े व्यापक फलक पर इस प्रश्न को उठाया है- और सरकार के बहाने भी कुछ आक्षेप लगाये हैं। सरकार वाले पक्ष से मेरा सरोकार इतना है कि रामानंद सागर-कृत (स्वामी रामानंद-कबीर-रैदास के गुरुश्री नहीं) रामायण को सरकारी दूरदर्शन प्रदार्शित कर रहा है। मैंने प्रधानमंत्री की उस पीठठोक् मीटिंग का भी विरोध किया है, जिसमें वे रामायण यूनिट को अपने घर बुलाकर धन्यवाद-श्वापन करते हैं। अत तुम्हारा यह कहना कि प्रधानमंत्री को साफ बद्या ले जाना चाहते हैं। तथ्यपरक नहीं है।

विद्रोह का लक्ष्य भी ओझल नहीं है, जैसा कि तुमने मान लिया है- सस्कृति को भ्रष्ट करने की सीधी जिम्मेदारी सरकार की है, जो कभी 'अपना उत्सव' और कभी भारत उत्सव (विदेशों में) के जरिए और कभी non resident Indians द्वारा भ्रष्ट विदेशी फिल्मों का आयात करके (N F D L) के जरिए और लगातार सरकारी संघार माद्यमों के जरिए करती है। संस्कृति की पूरी ठेकेदारी इस समय सरकार के पास है। शायद, तुमने 'रविवार' में ही छपा मेरा 'अपना उत्सव' वाला आलेख नहीं पढ़ा। मैं तो एक क्रम में लिख रहा हूँ (जो पत्रिका की सामायिकता को बनाये रखने के कारण टूटता रहता है) मैंने उस सरकारी बड़े अफसर के वक्तव्य का भी विरोध 'रविवार' में ही किया, जिसने कलकर्ते की एक मीटिंग (पर्यटन विभाग की) में कहा- 'इस सस्कृति को हमें गाँवों में ले जाना है।'

अत अगर तुम्हारी नजर इस क्रमागत लेखे पर न पड़े, तो मेरा दोष नहीं है।

मेरे Illustrated Weekly वाले Statement को भी तुमने अपने मन-मुआफिक बना लिया। मैंने उस में कहा है -He (Rajiv Gandhi) is the best politician, because he is not politician !

अगर तुम्हारे-जैसा जागरूक लेखक व्यग्य को नहीं समझ पाता, तो इस क्या कहूँ। मैंने राजीव गांधी को 'सबसे योग्य प्रधानमंत्री' नहीं कहा है। यह तुमने मेरे statement को बिना पढ़े जड़ दिया है।

तुम्हारा यह मासूम आक्षेप कि 'प्रधानमंत्री के सलाहकारों में, यहाँ हम अपनी ओर से कमलेश्वर भाई का नाम प्रस्तावित करना चाहेंगे', तो इस सम्बद्ध में तुम्हें बता दू कि तुम्हारे सुझाव से पहले यह प्रस्ताव 'कमलेश्वर भाई' के पास आ चुका है और तुम्हारे कमलेश्वर भाई, तुम्हारी आक्षेपपूर्ण सदाशयता के बावजूद, उससे अलग रहना मजूर कर चुके हैं- अपने लेखन के लिए।

रही रामायण के शरीयत होने की बात, तो इस्लामी शरीयत के कट्टरपन की बात अलग रखकर क्या तुम कह सकते हो कि रामायण परम्परागत रूप में सनातनी संगुणभक्त हिंदुओं की आचारसंहिता नहीं रही है ? पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाभी-देवर, गुरु-शिष्य आदि सबधों की 'आदर्श धारणाये' क्या रामायण से Quote नहीं की जाती ? हिंदू उदारवाद की बैसाखिया मत पकड़ लेना इस दलील का काटन के लिए।

शेष ठीक है।

सस्नह,
कमलेश्वर

श्री शैलेश मटियानी, इलाहाबाद

['रामायण और रामव्यरित मानस' के सार्कृतिक खतर लेख के सदर्भ में लिखा पत्र]

२६ अगस्त, १९८७

कमलेश्वर भाई,

आपका ७ अगस्त ८७ का पत्र। जो विश्वास और सद्भाव आपने व्यक्त किया, इससे परितोष अनुभव कर्त्ता, और आत्मीयता के प्रति कृतज्ञता, बिलकुल स्वाभाविक है। कभी पलट कर लेखा-जोखा लगाया, तो अनुभव हुआ कि बस, यही असली जमापूँजी है, जो कि कई-एक के भीतर थोड़ी-सी जगह जुटा लेना सम्भव हो गया।

स्वभाव की सासतों से बेखबर नहीं। जिस तरह लिखता-बोलता हूँ, लोगों का कुपित हो उठना निहायत स्वाभाविक जान पड़ता है, लेकिन इस सबके पीछे अनुभव और विश्वास का आधार है। जिनमें भी कुछ व्यक्तित्व और दृष्टि हो, वो कही-न-कही दूर और गहरे तक छाँकते जरुर हैं। हर विचारशील व्यक्ति इस सवाल में जरुर आता है कि कुछ भी लिखने-बोलने के पीछे इरादा क्या है। और अगर इरादा बुरा नहीं, तो कैसा भी तीखा लिखना या बोलना सम्भव नहीं तोड़ता, बल्कि बनाता है। कपट नहीं, तो सवाल फिर सिर्फ असहमति का है और सवाद के लिये असहमति से ज्यादा जरूरी कुछ नहीं।

असहमति आक्षेप नहीं, न अवज्ञा। बहस एक-दूसरे के प्रति सम्मान का सूचक हुआ करती है। बहस वही सम्भव है, जहाँ लगाव हो। विश्वास कि बात के गलत होने से कुछ फर्क नहीं पड़ना, अगर कि इरादा गलत नहीं। बहस खड़ी करने की कोशिश के पीछे कबड्डी खेलते होने का-सा भाव हो, तो 'खेलत में को काको गुसैया' वाला भाव आ जाता है, घोट करने का दुच्चापन नहीं रहता। तब पीठ-पीछे भी व्यक्ति वही बात करता है, जिसे मुँह-सामने कहते हियक नहीं हो।

राग-द्वेष छिपाये नहीं छिपते, कभी-न-कभी प्रकट होते जरुर हैं और फिर भाषा तो जहाँ प्रवाह में हुई, पारदर्शिता बढ़ती जाती है। जितना इस्तेमाल करें, भाषा हमारी हकीकत खोलती जाती है। लिखना जारी रहे, तो इरादा छिपना असम्भव है। आदमी को, दूसरों से पहले, खुद का सामना करना होता है। जिसमें पारदर्शिता नहीं, वही सद्याई से डरता है, क्योंकि सद्याई पत्थर में भी प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है। कमियाँ हजार, लेकिन कहीं कुछ सद्याई भी हो, तो आदमी का डर जाता रहता है। जिसे आप पीठ-पीछे का हमला कहना चाहते हैं, वह छूठों की नियति है। बहस हमला नहीं है। बहस सामने देखते ही लम्बी तानने वालों को कोई नहीं जगा सकता।

बहस और हमले में बुनियादी फर्क है। हमला घोट पहुँचाने के इरादे से किया जाता है, बहस तर्क का तूफान उठा सकने के इसादे में, क्योंकि तूफान में भी टिका रहे, तभी तर्क 'शास्त्रसम्मत' बन पाता है। तर्क ही क्यों, शस्त्र भी तभी अपनी प्रासागिकता सिद्ध कर पाता है, जबकि उसके पीछे बहस का शास्त्रीय आधार हो। मनोषियों ने हमले नहीं किये, लेकिन विश्व के सबसे बड़े संग्राम उन्हीं के द्वारा लड़े गये हैं। 'महाभारत' लिखना महाभारत लड़ने से कहीं बड़ा काम है। महाकाव्य के रूप में लिखा गया युद्ध न ही समाज की स्मृति से टिकता और दिशा देता है। 'रामायण' का सबसे बड़ा करिश्मा शस्त्र

और स्वेदना की टकराहट है। व्याध के वाण का तोड़ स्वय की महाकाव्यात्मक स्वेदना से उपस्थित करने के सघर्ष में ही आदिकवि ने राम के शस्त्र-सधान का नैतिक आधार निर्मित किया। आधुनिक युग में ठीक वैसा ही पुरुषार्थ मार्क्स में देखने को मिलता है, जिन्होने पूँजीवाद और सामाज्यवाद के विस्तृ खड़े सर्वहारा के शस्त्र-सधान का नैतिक आधार निर्मित किया।

बहक गया। कहना, दरअसल, इतना ही था कि बहस ही लिखने का नैतिक आधार है और अगर यह आधार मौजूद हो, तो लिखना शास्त्रार्थ है, हमला नहीं।

वाल्मीकि का जिक्र इसलिये भी, कि लगता है, आप इस आदिकवि के इरादे की पहचान में नहीं गये। 'रामायण' में हिन्दुओं की शरीयत खड़ी करने का इरादा कही नहीं। प्राणि-मात्र में करुणा और स्वेदना को जगाने का सकल्प जरूर है।

हर युगदृष्टा आचारसहिता रचता है। मार्क्स ने नहीं रची है साम्यवाद की सहिता ? अब कोई इसे मानव-सहार का लबादा बना डाले, तो इसमें मार्क्स का कसूर ? मार्क्स ने जो सर्वहारा की सशस्त्र क्राति का शास्त्र गढ़ा है, उसके पीछे राम के रावण से सग्राम के महाकाव्यात्मक वृत्त से छोटा तर्क नहीं। स्वेदना में दोनों युगातरकारी हैं- वाल्मीकि भी, और मार्क्स भी। रास्ते अलग-अलग हैं। एक का साधन काव्य और दूसरे का राजनीति है। यह देखे जाने की ही बात हो सकती है कि भाषा का कुछ-कुछ लगभग वैसा ही महासागरीय आलोड़न-विलोड़न मार्क्स में भी मौजूद है, जैसा वाल्मीकि में। वाल्मीकि को हिन्दुओं को कठायार्थ कहना, समझ का दीवाला घोषित करना होगा।

बैसाखियाँ हर हाल में बैसाखियाँ हैं, वो चाहे हिन्दू उदारतावाद की हों, या जड़ मार्क्सवाद की। बैसाखियों के रंग का लूले की गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विचार का आधार तर्क है और यह एक तथ्य कि हिन्दू धितन के धरातल पर अपेक्षाकृत उदार रहा है और इसका कारण धर्म की जकड़ से बाहर होना है। धर्म हिन्दू की नियति का तत्व नहीं। हिन्दू स्वयं के हिन्दू होने को हिन्दू धर्माचार्यों की मान्यता या मेहरबानी का मोहताज नहीं। यह एक सचाई है कि धर्म की जितनी गहरी जकड़ और बदिश पैगम्बरी धर्मों में, हिन्दू समाज में नहीं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दू समाज सारी विकृतियों से बरी है। जैसे सागर में पनाले जा मिलते हैं, आज हिन्दू समाज में हिन्दुत्व के सामने प्रश्नचिह्न बनती त्रिशूल सेनाओं का उदय हो चुका है। इसमें 'रामायण' या 'रामचरित मानस' का दोष नहीं, यह सब सत्तातत्र के रक्तबीजों का करिश्मा है और इस राक्षसी पुनर्जागरण से कोई अद्भूत नहीं। सिख, मूसलमान, हिन्दू और ईसाई- प्रत्येक में से सस्कृतिविहीन बर्बर तत्वों को तालाब में की गद की तरह सतह पर ले आने का काम काग्रेसी हुकूमत ने अजाम दिया है, कयोंकि इसके सारे नैतिक आधार ध्वस्त हो चुके हैं। भाषा, शिक्षा, कानून, सस्कृति और अर्थव्यवस्था- प्रत्येक क्षेत्र में काग्रेसी हुकूमत का चरित्र औपनिवेशिक तथा सामाज्यवादी होने से लोकतत्र, राष्ट्रीयता और सस्कृति के इसके सारे छद्म कोढ़ी के शरीर पर का मलमल हो गये हैं।

घरित्र का सवाल पहला सवाल है। डाकू के नकाब बना लेने से वस्त्र डाकाजनी का कारण नहीं बन जाता। सत्तातत्र के द्वारा 'रामायण' के धूर्तापूर्ण इस्तेमाल से इस महाकाव्य की हिन्दू साम्रादायिकता कैसे सांबित होगी? आपने सत्तातत्र के छद्म का सवाल कम, 'रामायण' के हिन्दू शरीयत होने का सवाल ज्यादा उछाला है और यही सस्कृति की गलत समझ है। शैतान के 'कोट' करने से बाइबिल नाली में फेंकने की वस्तु नहीं बन जाती। 'रामायण' भारतीय सस्कृति का आदिग्रथ है। 'रामायण' को छोड़कर भारतीय सस्कृति की बात करना भारतीय सस्कृति के अन्त स्रोतों की पहचान से इकार करना है।

आपके सभी लेख तो नहीं पढ़े 'रविवार' में, लेकिन कुछ पढ़े और उनमें से प्रत्येक में जहाँ कुछ विचारात्मक और प्रासादिक मुद्दे उठाये गए हैं, उतनी ही शुद्ध भावातुर लतरानियाँ भी। मुसलमानों का पक्ष लेना एक चीज़ है, हिन्दू साम्रादायिकता का एकतरफा हौवा खड़ा करना बिलकुल दूसरी और बिलकुल गलत चीज़। पहली बात, साम्रादायिकता न भारत के बहुसंख्य मुसलमानों की जरूरत है और न ही हिन्दुओं की। दोनों जगह साम्रादायिकता का खेल सत्तातत्र-प्रेरित तथा पोषित साम्रादायिक तत्वों का करिश्मा है और ज्यों-ज्यों इन्हें सत्तातत्र की शह मिल रही है, ये अपना खुँखार खेल बढ़ाते जा रहे हैं। इसलिये जरूरत साम्रादायिकता-मात्र के प्रतिरोध की है, इस दलील में कुछ दम नहीं कि अल्पसंख्यकों की तुलना में बहुसंख्यकों की साम्रादायिकता खतरनाक होती है। भारत की तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के द्वारा बहुसंख्यकों में साम्रादायिकता को भड़काने को अल्पसंख्यक वर्गों की पीठ थपथपाई जाती है।

साम्रादायिकता काँग्रेसी हुकूमत का अपरिहार्य तत्व है, क्योंकि इसकी बुनियाद ही साम्रादायिक बन्दरबॉट से पड़ी है। पाकिस्तान जनमत-सग्रह के आधार पर नहीं, बल्कि लीगी घरम साम्रादायिक तत्वों की पण्डित जवाहरलाल एण्ड कम्पनी से साधि की उत्पत्ति है। मजहब के नाम पर बने पाकिस्तान ने ही धर्म के नाम पर राष्ट्र का वह तार्किक आधार तैयार किया, जो भारत की आत्मा के विरुद्ध है। खालिस्तान भी उसी मजहब के नाम पर मुल्क के नारे की प्रतिव्याया है। हिन्दू-मुसलमान के सवाल को छूते में इसके सारे प्रसंगों की गहरी पड़ताल जरूरी होगी और यह स्पष्ट बताना होगा कि भारत एक तिहाई पाकिस्तान बनकर नष्ट हो चुका, बाकी बचा खालिस्तान और हिन्दू राष्ट्र बनकर नष्ट हो जायेगा। भारत की संस्कृति वैदिक संस्कृति का पोखर नहीं, सागर है। भारतीय संस्कृति साझा संस्कृति है। यह सिर्फ हिन्दुओं की बर्पीती नहीं। इसकी निर्मिति में मुसलमान का हाथ इतनी गहराई तक लगा है कि अलग करने के लिये भारतीय संस्कृति का गला रेतना जरूरी होगा।

चूंकि साझा संस्कृति है, इसलिये सरक्षा का दायित्व भी हिन्दू मुसलमान, सिख, ईसाई और पारसी- सभी पर है। पाकिस्तान के मुसलमान इस साझा जिम्मेदारी से अलग हो चुके हैं, इससे भारत के मुसलमानों की जिम्मेदारी कुछ ज्यादा बढ़ गई है। इतिहास में अनेक ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं, जब दूसरों के किये का भोग हमें भुगतना

होता है। भारत के मुसलमान आज इसी ऐतिहासिक मोड पर खडे हैं और इसी से उनका सकट दोहरा है। ऐसे में यह हिंदुओं की भी नैतिक जिम्मेदारी है कि मुसलमान को अकेला न पड़ने दे।

पाकिस्तान ने भारत के मुसलमान का नैतिक आधार झीना कर रखा है, यह एक तथ्य है और जरूरत इस तथ्य से इकार नहीं, बल्कि इसका सामना करने की है। मुसलमान का अपने हर काम के लिये हुकूमत की तरफ ताक-झाँक करना ही सत्तातत्र को उसकी शक्ति साम्प्रदायिक बनाने का अवसर जुटाता रहा है। गाँवों में आज भी चौंकि मुसलमान का वास्ता हिन्दू से बँटाईदार और दुख-सुख, बुरे-मले के साझीदार का है, इसी से कैसे भी बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय के बीच भी न मुसलमान खतरे में है और न इस्लाम। सवाल, इसीलिये, हिन्दू-मुसलमान को जुड़वाँ भाइयों की शक्ति देने का है और आदमी की शक्ति को आदमियत की आब देने का सबसे बड़ा जिम्मा सस्कृति पर। हुकूमत सस्कृति की शक्ति खुद की जैसी निकालना चाहती है, ताकि उसकी शक्ति सस्कृति के सरक्षक की निकल सके। सस्कृति पर चौतरफा हमला सत्तातत्र की इसी कूटरीति का परिणाम है कि सस्कृति के ताने-बानों को पूरी तरह ध्वस्त किये बगैर, लोगों का मनवाहा इस्तेमाल मुश्किल होगा। सस्कृति हमेशा बर्बरों के आडे आती है।

सस्कृति का आधार है सवेदना और सवेदना में आदमी जुड़ता है। सिखों और मुसलमानों के कर्त्त्वेताम से सिर्फ हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों को ही तुष्ट किया जा सकता है और इस करिश्मे को आजमाने की भी एक सीमा होगी, इसी अभिज्ञान में संस्कृति पर हमला बोला जाता रहा है। राज्यव्यवस्था जब भी बर्बर होती है, उसकी पहली भूख समाज के अन्त सत्त्वों को घाटने की होती है। सस्कृति राज्य नहीं, समाज की उत्पत्ति है। उसका आधार शस्त्र नहीं, सवेदना है। उत्पीड़क राज्यव्यवस्था सस्कृति को अपनी सबसे बड़ी बाधा पाती है। सस्कृति की जड़ें आदमी के भीतर होने से वह यहाँ सीधे कब्जा नहीं जमा पाती, इसीलिये उसे विकृत और विस्पृत करके खत्म करना चाहती है। जैसे कोई दूध में जहर घोलता है, वैसे ही सत्तातत्र सस्कृति के क्षेत्रों में विष-वमन में जुटा है। सस्कृति को उसके अन्त सोतों से काटकर, सत्ता के सचार-साधनों की गिरफ्त में जकड़ने की मुहिम ही सारे सरकारी सास्कृतिक उत्सवों का केन्द्रबिन्दु है।

आपका यह कहना बिलकुल सही है कि सरकार गाँवों में ले जाने के बहाने सस्कृति में जहर घोलने की तैयारी कर रही है। शहरों के नगो-बर्बर दगो के बावजूद गाँवों में हिन्दू-मुस्लिम और सिखों के बीच दगो का नहीं होना हुकूमत की चिंता का कारण बन सकता है। गाँवों में किराये के दगाड़ियों की घुसपैठ आसान नहीं होने से, यह काम दूरदर्शन, अकाशवाणी और सारकृतिक उत्सवों के माध्यम से किया जाना है। सास्कृतिक उत्सवों के नाम पर सत्तातत्र के खर-दूषण और शूर्पनखाओं का गाँवों में प्रवेश भारतीय सस्कृति के लिए विध्वस्क साबित होने वाला है। जो खत्म व्रितिश साम्राज्यवाद नहीं खड़ा कर सका, सचार माधनों की मारक शक्ति के माध्यम से काग्रेसी हुकूमत ने सिर पर तान दिया। देश के सवदनशील और विद्यार्थियों ने सस्कृति पर इस राक्षसी

हमले का प्रतिरोध नहीं किया, तो भारतीय संस्कृति का विद्वस निश्चित है।

सांस्कृतिक उत्सवों की सारी राजनीति गला रेतने से पहले माथे पर तिलक-चन्दन लगाने की कपटविद्या की देन है। संस्कृति के सवाल आदमी की सामाजिक-आर्थिक के बाद नहीं, बल्कि साथ के सवाल हैं। देश के ऐसे दुर्दिनों में अरबों रुपये सांस्कृतिक भैंडैती में बरबाद करने वाले सत्तातत्र से उम्मीद की जा सकती है कि यह संस्कृति का विकास करेगी ? सारा सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व जरखरीद बहुरूपियों के हाथों में है। प्रतिभा का दुर्भाग्य कि वह समाज से कटकर सत्तातत्र के इस्तेमाल की वस्तु बन जाती है। यह जो आपने प्रधानमंत्री के सलाहकारों में शामिल नहीं होने का इरादा जाहिर किया है-नहीं जानता, कितना टिकेगा। कालातर में आप सत्तातत्र के सांस्कृतिक खेमों में रह चुके हैं और इतना अनुभव आपको जरूर होगा कि यज्ञ आदमखोरों के साथ मिलकर करने की वस्तु नहीं। मासूम आक्षेप या मासूम सदाशयता में कुछ फर्क नहीं, क्योंकि यदि आक्षेप दुर्भावना में हो, तो उसका मासूम होना धूर्तता है। अपनी वाष्ठा आपको अपने पाले में पाने की ही हो सकती है, सत्तातत्र के बांडे में देखने की नहीं।

लेखक तभी तक लेखक है, जब तक पर्यवस्तु नहीं। आप लेखक होने की कीमत चुकाना चाहते हैं, इससे सिवा हर्ष के और क्या अनुभव होगा। हालांकि यहा मामला लगभग समाप्त है। औकात से ज्यादा वजन उठाना भारी पड़ा और एक गहरी टूटन, थकान तथा परास्तता ने हतप्राण-सा कर दिया है, लेकिन फिर भी आप आवाज देंगे, तो और चाहे कुछ नहीं, सुनने से इकार तो नहीं ही होगा, क्योंकि आदमी की आवाज से बड़ी कविता कुछ नहीं। जिसे आवाज देना और आवाज सुनना आ गया, उसे आदमी होना आ गया।

लेखक 'अभिप्राय' में छप रहा है। सम्पादक का पत्र आप तक पहुंचेगा जरूर। सचमुच खुशी होगी, अगर आप कुछ लिखें। कैसी भी कट्टु आलोचना लेखक की कोई क्षति नहीं करती। आलोचना और तर्क तो दीक्षा का काम करते हैं। लेखक होना समाज के अखाडे की मिट्टी में लथपथ होना नहीं हुआ, तो फिर लेखक होना ही क्या हुआ ?

सचमुच कृतज्ञ हूँ कि आपने इतना प्यारा जवाब दिया।
मानन्द हाँगा।

आपका
शैलेश मटियानी

सवा मे
श्री कमलश्वर सम्पादक गगा' दिल्ली।

विष्णु प्रभाकर,
ट१८, कुण्डेलवालान चौक, दिल्ली ।

दिनांक २६ मार्च १९८८

प्रिय भाई

मुझे 'अभिप्राय' मेरा रामायण के सबध मेरे आपका लेख पढ़ने का मिला। मैं उससे बहुत प्रभावित हुआ। आपने सचमुच तटस्थ भाव से सारी चीजों को देखा-समझा, जबकि हम प्राय एकाग्री दृष्टि से ही किसी वस्तु की परख करने के आदी हो गये हैं। मैं आपके मूल स्वर से पूरी तरह सहमत हूँ।

वैसे मेरा अपना एक निजी दृष्टिकोण है। हमारे पुराणों में दशावतार की जो कथा आती है- एक अद्भुत कल्पना है। जीव और उसकी सस्कृति के विकास की ऐसी परिकल्पना आज भी शायद हम नहीं कर पाते। रामायण और महाभारत इसी विकास क्रम के दो महत्वपूर्ण पड़ाव हैं घुमन्तु जातियाँ जब खेती करना सीख गई और गिरोह में बैटकर रहने लगी, तब जिस सस्कृति का विकास हुआ, वही रामायण का मूल आधार है। नाना कवियों ने उसको नाना रूपों में देखा और वर्णन किया है। नौतक नियम ऐसे ही समय विकसित होते हैं। और जब विकास क्रम में ये नियम जड़ हो रहते हैं, अर्थात् शब्द रह जाता है, अर्थ भूल जाता है, तो महाभारत का जन्म होता है। कृष्ण राम से बड़े अवतार हैं, लेकिन वे सभी उन नियमों को तोड़ देते हैं, जो राम के काल में विकसित हुए थे। यानी वे जड़ता के प्रति मोहभग के प्रतीक हैं और नैतिक-अनैतिक से ऊपर उठकर सत्य की तलाश में आगे बढ़ते हैं। यह मात्र प्रतीक-रूप में मैं अपनी बात कह रहा हूँ। कवि की कल्पना में अतिशयोक्ति तो होती ही है। हमें उसके पार देखना ही चाहिए और प्रतीकों के अर्थ समझना चाहिए। बामन और बलि की कहानी, विज्ञान की जड़ शक्ति और मानवमूल्यों के जीवन्तता के सघर्ष की कहानी है।

ऐसे अनेक प्रतीकों से भारतीय वाग्मय मालामाल है। यहाँ हिंदू संस्कृति का प्रश्न नहीं है भारतीय संस्कृति का प्रश्न है। यु काल के प्रभाव में अनेक विद्यारथाराएं पनर्पीं, उनमें सघर्ष भी हुआ। लेकिन वे अन्तत एक-दूसरे में खो गईं। आज हम नहीं जानते, कौन आर्य है, कौन द्रविड़ है, कौन शक। हिन्दू नारी का पवित्र सुहाग विन्ह 'सिन्दूर' आर्य जाति में प्रयोगित नहीं था, वह तो आग्नेय जाति की देन है। मिलीजुली सामाजिक संस्कृति इस देश की मूल भावना रही है। अग्रेजों ने जानबूझ कर सुनियोजित रूप से उसको छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न किया। और सफल भी हुए। दोषी वह भी है। उसी का परिणाम आज हम भुगत रहे हैं। इस दृष्टि से रामानंद सागर ने रामायण को नहीं देखा। अन्यथा बानर और रीछ जातियों का कुछ और ही रूप होता। ऐसी अनेक बातों पर मुझे भी आपत्ति है। मुझे तो स्वयं हिंदू धर्म को उससे वैज्ञानिक विद्यारहीनता का खतरा लगता है। आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे। एक बार फिर मेरा आभार लें।

स्नेही

विष्णु प्रभाकर

सेवा मे

श्री शैलभ मठियानी हन्माहाताट।

इलाहाबाद १२ जून १९८८

आदरणीय विष्णु जी,

आपके २१ मार्च के पत्र का उत्तर लिखने अब बैठा हूँ। कुछ इतमीनान से लिखने के निश्चय में विलम्ब होता गया।

आपने 'अभिप्राय' में छपे 'रामायण' और रामचरितमानस के सास्कृतिक खतरे' लेख की सराहना की। इससे जहाँ बल मिला, वही गलानि भी हुई कि काश, न सही विश्व साहित्य, अपने परम्परागत वाङ्मय का तो कुछ अध्ययन होता। वेद, उपनिषद और पुराणों की तो बात ही दूर, अभी तक 'रामायण' और 'रामचरितमानस' भी पूरे नहीं पढे। ज्ञान की अन्य शाखाओं की क्या कहाँ, साहित्य के ही अध्ययन के मामले में भी स्थिति बहुत ही शर्मनाक है। ऐसे में कुछ समय, लिखने की जगह, अध्ययन में लगाना जरूरी था, लेकिन लिखना तो आपाधारी में भी कर लेने की आदत है- पढ़ना कठिन। कम शिक्षा भी एक कारण है, क्योंकि समझते वक्त लगता है। बिना ज्ञान के ही लिखने के सम्भावित खतरों से परिचित होते भी, लिखना स्थगित नहीं कर पाता। सचाई यह है कि ज्ञान की दिशा अपने वश की नहीं लगती। अज्ञान 'आओ-आओ' कहता सुनाई पड़ता है। अनुभव से पाया कि अज्ञान भी अगाध है। इसीमें मन बना कि ज्ञान की चिंता में रुकना नहीं है।

मान्यता तो यही है कि अज्ञान आदमी को लट्ठ बनाता है, लेकिन जाने क्यों कुछ ऐसा भ्रम बनता गया कि एक मोड पर आकर अज्ञान अधे को लाठी भी बन जाता है। जो ज्ञान से चलते हों, उन्हों के साथ अज्ञान से चलते चलने का भी एक अपना रोमांच होता है। सड़क को लाठी से देखते होने का इतमीनान सात्वना देता है। अशिक्षा और अज्ञान के अधेरे में चलते भी जात्रा में बने होने की अनुभूति सामान्य नहीं होती। इतना जरूर कि सबसे पीछे रहना होता है, लेकिन इसी में हित भी है।

ज्ञानियों के द्वारा कहे गये से सहमत नहीं हो पाना भी अज्ञान है और यह अज्ञान ही बहस को उक्साता है। कमलेश्वर भाई के 'रामायण' और रामचरितमानस से भारतीय सस्कृति को सकट उत्पन्न हो गये होने के निष्कर्ष से असहमति में ही 'अभिप्राय'वाली लम्बी टिप्पणी लिख गया। जानना चाहता था कि क्या 'रामायण' रामचरितमानस के नित्यप्रति के पाठ या प्रसारण से भारतीय सस्कृति अथवा अन्य धार्मिक समाजों को सद्मुद्र खतरा उत्पन्न हो सकता है, लेकिन अफसोस कि कमलेश्वर भाई ने बहस से इकार-सा ही कर दिया।

बात सिर्फ कमलेश्वर भाई तक ही सीमित नहीं। इधर हिन्दी के बुद्धिजीवियों के तरह-तरह के जत्थे-के-जत्थे इस बात पर जोर देते रहे हैं कि रामलीला अथवा 'रामायण' और रामचरितमानस के नित्यप्रति के प्रसारण तथा पाठों ने अन्यधर्मी समाजों, विशेषकर मुसलमानों, के लिये खतरा उत्पन्न कर दिया है। ये धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवी इस सवाल में जाना ही नहीं चाहते कि अगर 'रामायण' के दूरदर्शन पर प्रसारण से हिन्दू पुनरुत्थानवाद और साम्प्रदायिकता के फैलाव का खतरा बढ़ रहा है, तो सबसे पहले सैन्य सामरी उत्तर को दिन पात्रतावादी उत्तर करना होगा और

‘रामायण’ और रामचरितमानस में से उन तथ्यों को रेखांकित करना, जिनमें मुसलमानों के विरुद्ध विद्रोह और हिंसा का आह्वान हो।

हम सब जानते हैं कि वस्तुएं अपना इस्तेमाल स्वयं नहीं करती। तब किसी भी वस्तु के दुरुपयोग को लेकर उसे इस्तेमाल करने वाले तत्वों को जिम्मेदार करार देना जरूरी होगा- और यह बताना भी कि जब ‘रामायण’ या ‘रामचरितमानस’ के नित्य-पाठ से मुसलमानों, ईसाइयों अथवा पारसियों आदि हिन्दूतर समाजों को खतरा हो सकता है, तो कुरान, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहब अथवा जावेस्ता या अन्य धर्मग्रन्थों के नित्य पाठ से हिन्दुओं को खतरा क्योंकर नहीं होगा ?

हमारे अनेकानेक तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को यह मुगालता है कि एक तो हिन्दू समाज ही एक ऐसा खुला मैदान है, जहा कैसा भी कूड़ा-कर्कट फेंकने में कोई जोखिम नहीं। दूसरे, हिन्दू धर्म के विरुद्ध बोलते ही, आधुनिक वैज्ञानिक वृष्टिसम्पन्न धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी होने का खिताब मिलते देर नहीं लगती ! जबकि धर्म को अफीम करार देना जरूरी हो, तो भी सिर्फ उसी धर्म को इस नेक काम के लिये चुनना सिवा अवसरवाद के और कुछ नहीं होगा, जिसमें कि धर्म को मनुष्य के अस्तित्व की शर्त मानने से इकार किया गया हो। जहाँ नास्तिकता को भी बाकायदे मान्यता प्राप्त हो। जहाँ यह सिद्धात कहीं चलन में हो ही नहीं कि जो धर्म पर ईमान लाने से इकार करेगा, उसे समाज में भी कोई जगह नहीं होगी।

रामानन्द सागर ने ‘रामायण’ का फिल्माकरण कैसे और सरकार ने इसका दीर्घकालीन प्रसारण किस इरादे से किया, यह बिलकुल अलग सवाल है और यह अलग कि ‘रामायण’ और ‘रामचरितमानस’ साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं। यहा ध्यान रहे कि सामुदायिक और साम्प्रदायिक, ये दोनों पूरी तरह अलग-अलग शब्द हैं, हालांकि महाकाव्य समग्र मानव जाति की स्वेदनाओं का सवहन करते हैं, फिर भी, देश-काल की सीमाओं के चलते, उनके सामुदायिक होने की बात तो किसी हद तक सगत हो सकती है, लेकिन कोई भी महाकाव्य सम्प्रदाय की किताब कभी नहीं होता। फिर जिन महाकाव्यों का भेस्टिंग ही करुणा हो, उनके साम्प्रदायिक होने का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि साम्प्रदायिकता का पहला तत्व बर्बरता है। ‘रामायण’ और ‘रामचरितमानस’ को साम्प्रदायिक करार देने के मुरीद धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को बताना चाहिये कि क्या साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर महाकाव्यों की रचना सम्भव भी है ? कहीं कोई ऐसा उदारहण ?

ऐसे तमाम अवसरवादी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी साम्प्रदायिकता की आग को हवा देने का काम करते हैं, जो उसकी ओँच में खुद की खिंचड़ी राँधने का मौका देखते हों। अन्यथा सामुदायिक सद्भाव अथवा सामाजिक एकात्मता की बुनियादी शर्त ही यह है कि एक-दूसरे के विश्वासों और भावनाओं पर घोट नहीं की जाय। आज हम कुरान-बाइबिल पर कीचड़ उछालें और कल्न जब मुसलमान- ईसाइयों के द्वारा आन्दोलन किया जाए, तो उन पर मुस्लिम-ईसाई पुनरुत्थानवाद को भड़काने का आरोप जड़ दें-

इस चतुर बौद्धिजीविता मे कुछ नही रखा ।

प्रत्येक देश काल और समाज मे कुछ व्यक्ति होते हैं, जो जीवन-भर मूल्यों के सघर्ष मे तपते हैं। धर्म, दर्शन और काव्य के क्षेत्र मे ऐसे अनेक मनीषी हुए हैं, जिनमे मानवसमाज की आकाक्षा, आस्था और स्वेदना के सर्वोच्च शिखरों को आकार मिला है। ऐसे महापुरुषों के कार्यों और कृतित्व को कन्द्र मे रखकर, अनेकानेक मानव समाज, हजारों-हजार वर्षों से, स्वय की आस्था के वृत्त बुनते आये हैं। ऐसे तमाम व्यक्ति (अथवा ग्रन्थ) समय के साथ मानवजाति की धरां उनते जाते हैं। उनमे मूल से अधिक सूद जुड जाता है। किसी भी मानव समाज की ऐसी परम्परागत धरोहर पर प्रहार करना सिवा साम्राज्यिक बर्बरता के और कुछ नही। कट्टरता ऐसे प्रत्येक धर्म, दर्शन अथवा विद्यारधारा की नियति है, जिसमे ईमान नही लाने वालो के लिये जगह नही हो ।

आदमी मे यह विनय जरूरी है कि सर्वज्ञता असम्भव है। अपने ही ज्ञान का सर्वोच्च ज्ञान मानना जाहिलपन है। मृष्टि अगाध है। उसका जैस हमे, दूसरो को भी ज्ञान बिलकुल सम्भव है। ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं का उदय और प्रसार ही मनुष्य के उन्मुक्त नैसर्गिक विकास का आधार निर्मित कर सकता है। इस वैद्यारिक खुलेपन मे ही एक ऐसी विश्वव्यतना का अस्तित्व सम्भव हो सकता है जो धर्म या मजहब को आदमियत के आडे नही आन द। जा बताय कि विविधता सौन्दर्य को बढ़ाती है ।

अस्महिष्णुता साम्राज्यिकता का सबस मुख्य तत्व है। जो असहमति बर्दाश्त करने मे अमर्मर्थ हा ऐस तमाम लाग बर्बर हात है। धार्मिक बर्बरता और बौद्धिक बर्बरता, ये एक ही सिक्क के दो पहलू हैं। जा स्वय साम्राज्यिक हैं, उनके हिन्दू साम्राज्यिकता का हौवा खड़ा करने मं कुछ दम नही। साम्राज्यिकता के विरुद्ध सघर्ष के लिये वैद्यारिक खुलापन जरूरी शर्त है ।

मनुष्य जितना सामाजिक, उतना ही निजी तथ्य भी है। वह ऐसे सारे कार्यकलापों को नैसर्गिक तौर पर ही पूरी तरह स्वाधीन है, जिससे दूसरों को बाधा नही पहुँचती हो। धर्म के मामले मे उपासना की पद्धतियो (अथवा खुदा या ईश्वरों) के सवाल विभिन्न मानव समुदायों की निजी आस्था के सवाल हैं। किसी भी धर्म अथवा विद्यारधारा को इस नैसर्गिक नियम से ऊपर नही माना जा सकता कि उसमे दूसरो के प्रति खुलापन हो। इतना जरूर कि हित के सवाल से कोई वस्तु ऊपर नही, इसलिये जब हितो का अतिकमण हो तब प्रतिरोध को हम स्वतंत्र हैं, लेकिन हमारी पहचान इस एक बात से हो जाती है कि हम पहले बन्दूक उठान मे विश्वास करत हैं या कि बहस ।

हिन्दू साम्राज्यिकता की चिल्लियों मध्याने से पहले हिन्दू समाज के इस वैद्यारिक खुलेपन पर भी ध्यान देना जरूरी होगा कि एक यही समाज है, जिसने धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक विवादो को शस्त्र नही, शास्त्रो से तय करने की परम्परा निर्मित की। जिसने शस्त्रबल से दूसरे समुदायों को स्वय मे लीलने की जगह, अपने से से विभिन्न धार्मिक-सैद्धान्तिक मतावलम्बियों के पृथक अस्तित्व को अपनी ही नयी शाखाओं की भाति

मान्य किया। यह एक तथ्य है कि दुनिया के पैगम्बरवादी धर्मों अथवा विद्यारदर्शनों की तुलना में विविधता में समरूपता (अनेकता में एकता) के प्रत्यय को हिन्दू समाज में ही पूरी तरह आकार मिला।

उस हर वस्तु का खुली किताब होना जरूरी है, जिसके कि तारं सारे समाज तक जाते हो और वह हर वस्तु गडबड है, जिसे सवाल से ऊपर रखने की जिद हो, लेकिन सवाल भी इस सवाल से बरी नहीं कि हम कोई सवाल उठा क्यों रहे हैं? फिर सवाल करते में ध्यान रखना जरूरी है कि आक्षेप सवाल नहीं। आक्षेप या छीटाकर्शी करने वाला कभी बहस नहीं चाहेगा, जबकि सवाल सिर्फ वही करेगा, जो जानना और समझना चाहता हो। जिस सवाल के पीछे जानने-समझने और बहस की प्रक्रिया गायब हो, वह जाहिलपन का सूचक हुआ करता है।

‘रामायण’-‘रामचरितमानस’ हो कि कुरान-बाइबिल-जावेस्ता या गुरुग्रन्थ साहब, किसी पर भी सवाल उठाना बुरा नहीं, लेकिन नेकनीयती जरूरी है। हिन्दू पुनर्स्त्वानवाद अथवा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध बौद्धिक जेहाद मचाये हुए बुद्धिजीवियों में नेकनीयती नदारद है, इसलिये वो हिन्दू समाज की रुदियों और विकृतियों की जगह, हिन्दू आस्था पर आधार करना जरूरी समझते हैं।

आपने भारत की जिस सामासिक सस्कृति का जिक्र किया, वह इसी मनाभूमि की उपज है कि- पृथिवी सबको है।

मानव समाज के धार्मिक की जगह साम्प्रदायिक समुदायों में विभक्त होने के पीछे सत्ता का सधर्ष मुख्य कारण रहा है। धर्म और साम्प्रदायिकता एक-दूसरे के अपिरहार्य अग नहीं। साम्प्रदायिकता धर्म के बन्यादी सारत्तवां के विरुद्ध पड़ती है। धर्म को साम्प्रदायिकता का रग वादियों की देन है। कालान्तर में जिस धर्म या धार्मिक मठ को जितना राज्याश्रय मिला, उतना ही उसका विस्तार हुआ, लेकिन बलात धर्मात्मण के द्वारा सामुदायिक वृद्धि का धार्मिक सिद्धात हिन्दुओं ने कभी नहीं चलाया। जो छाटी-छोटी धाराओं की तरह बहते हिन्दू समाज की मुख्यधारा में आ गये, उनकी बात भिन्न है।

हिन्दू धर्म इस अर्थ में कभी राज्य का धर्म नहीं रहा कि हिन्दू समुदाय के बलात विस्तार में राज्य का कोई यागदान हो। इसलिये हिन्दू समाज की कुरीतिया और रुदियों पर चोट करते हए, इसके उस परम्परगत अवदान को ध्यान में रखना जरूरी होगा, जिसके कारण यह धर्म राज्यमत्ताओं का हथियार बनने से बचा रहा। जो हिन्दू धर्म पर ईमान नहीं लायेगा, उसे हिन्दू समाज में काई जगह नहीं होगी, ऐसी कुर्झ शर्त नहीं होने से ही हिन्दू समाज में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की मानसिकता बनी।

धार्मिक सहिष्णुता के पाठ को हिन्दुओं ने दूसरों नहीं, बल्कि दूसरों न हिन्दुओं से सीखा। आपने जो भारत के अगजो के उपनिवेश बनने से पहले के हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द का जिक्र किया है, उसका मुख्य श्रेय हिन्दुओं को जाता है। दुनिया के इतिहास में कहीं

यह घमत्कार घटित नहीं हुआ कि विदेशी शासकों की सम्कृति और विजित देश के सम्कृति के मल-मिलाप से वहा की मूल सम्कृति में और ज्यादा विस्तार आया हो। सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों के समाज ने ही इस घमत्कार को आकार दिया। और ऐसा नहीं कि जिस दौर में हिन्दुओं-मुसलमानों के मल-मिलाप से भारतीय सम्कृति के वृक्ष में गगा-जमुनी सम्कृति की सबसे समृद्धतर सुदरतर शाखा फूट रही थी, उन दिनों 'रामायण' और 'रामचरितमानस' अस्तित्व में नहीं रहे हो।

तथा है कि आज के हिन्दू-मुसलमान विग्रह के पीछे बुनियादी कारण 'रामायण' या 'रामचरितमानस' कतई नहीं। हाते तो इनके विस्त्र युग्मित्य शासकों के जमान में ज्यादा बावेलामचाता। ऐसे में हिन्दी के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों का साम्प्रदायिकता के तत्वों की पहचान स्पष्ट करने की जगह, 'रामायण' और 'रामचरितमानस' पर बौद्धिक झाग उगलना किस बात का सूचक माना जाय?

आपने लिखा है कि अग्रजों ने इस देश की सामाजिक सम्कृति को छिन्न-भिन्न करने की काशिश की। मुसलमान शासकों के समय तक में हिन्दू और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक दणों का अस्तित्व में नहीं होना इसका सबूत भी है। राज्यधिकार की लडाइयों अलग चीज हैं और साम्प्रदायिक दणों अलग। साम्प्रदायिक दणों सिर्फ साम्प्रदायिक राज्यव्यवस्था में ही सम्भव हैं। वर्तमान में जो हिन्दू-मुस्लिम दणों या हिन्दू-सिख झगड़े हैं, उन्हींने कि राज्यसत्ता पर साम्प्रदायिक तत्वों का गठबंधन हावी है, लेकिन हमारे धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी इस बहाने में काई दिलचस्पी नहीं रखते। कि राज्यव्यवस्थाथा का चरित्र साम्प्रदायिक है, या नहीं। ये अपनी हवाई बौद्धिक क्राति के लिये ऐसे साम्प्रदायिक समाजों का चुनते हैं, जिनके विस्त्र धिल्लाने में नुकसान कुछ नहीं, लाभ अनेक है।

आपने माना है कि अग्रजों की 'विघटनवादी नीतियों का भोग हम आज भी भुगत रहे हैं। इसका मतलब यही हुआ कि काग्रेसी हुकूमत ने अग्रजों की सामुदायिक विघटन की गण्डविरोधी नीति को ज्याँ-का-त्यों घलन में बनाये रखा है। तब तो देश के सारे जागरूक बुद्धिजीवियों को अपने साम्प्रदायिकताविरोधी बौद्धिक जेहाद का रुख काँग्रेसी हुकूमत की तरफ ही रखना चाहिये? क्योंकि अग्रजों की फूट डालो, राजू करो की कूटनीति के दुष्परिणाम अगर हम आजादी के चालीस साल बाद भी भुगत रहे हैं, तो सिर्फ भुगतने के शौक में तो नहीं ही भुगत रहे होंगे?

जाहिर है कि हमारे तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को इस तरह के सवालों में कोई रुचि नहीं। इनका जो रवैया धर्म, वही भाषा के मामले में भी है। ये हिन्दी के द्वारा उर्दू के दमन की कहानियाँ सुनाते नहीं थकेरों लेकिन अग्रजी के द्वारा सारी भारतीय भाषाओं के दमन का जिक्र कभी नहीं करना चाहेगे। धर्म हो कि भाषा, ये किसी भी मामले में इनके बुनियादी सवालों पर कभी नहीं जाना चाहते। इनका सारा जोर हिन्दू-हिन्दी पुनरुत्थानवाद तथा एकाधिपत्य का हौवा खड़ा करके, स्वयं के मुखोंटे पर समाजवादी-वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्षता का गग-रोगन घमकाते रहने तक सीमित है। जबकि

वैद्यारिक खुलापन वैज्ञानिक सोच की पहली पहचान है और, सारी विकृतियों के बावजूद, वैद्यारिक खुलेपन को आज भी जितनी हिन्दू समाज में जगह है, अन्यत्र नहीं।

इसमें कोई सदेह नहीं कि आज हिन्दू समाज अनेकानेक रुदियों और सकीर्णताओं में जकड़ा हुआ है। इसके मेरुदण्ड में दरार आ चुकी है। जातिवाद का कोढ़ पक चुका है।— लेकिन ओने-कोने ही सही, कैसी भी खुली बहस को अभी भी मौजूद है और जरूरी है कि हिन्दू समाज की ऐसी तमाम कुरीतियों, रुदियों और सकीर्णताओं की तीखी-से-तीखी आलोचना की जाय, जिनसे धाव के नासूर बनने के खतरे मौजूद हों।--- लेकिन जहाँ तक विद्यारहीनता का सवाल है, यह खतरा सिर्फ हिन्दू धर्म ही नहीं, बल्कि दुनिया के तमाम धर्मों, यहा तक कि स्वयं विज्ञान के माथे पर भी मढ़ा रहा है।

यहा स्वतं सम्पूर्ण कुछ नहीं। न धर्म, न विद्यारधारा और न विज्ञान। धर्म की ही तरह विज्ञान भी राज्यसापेक्ष है। राम के समय धर्म का लोप नहीं था। आज विज्ञान उत्कर्ष पर है, लेकिन इसने मुनष्य को स्वस्ति नहीं दी। भयंकर विनाश के बादल उमड़ते-धुमड़ते दिखाई दे रहे हैं, तो इसलिये नहीं कि विज्ञान स्वयं में ही विनाशकारी तत्व है बल्कि इसलिए कि दुनिया हथियार के सौदागरों के कब्जे में हुई पड़ी है।

विद्यारहीनता स्वयं में ही खतरनाक है। इससे क्या फर्क पड़ना कि कहाँ है, कहाँ नहीं। विज्ञान और विद्यारधारा के क्षेत्र की विद्यारहीनता धर्म के खतरों से कम खतरनाक करताई नहीं होती। मानवजाति के विनाश का जितना बड़ा खतरा विज्ञान के दुरुपयोग में है, उतना धर्म नहीं, क्योंकि धर्म की सहारकता भी हथियार पर ही अटकी है। एक भोपाल गैसकाण्ड में कितने लोग उजड़ गए ! आने वाले समय में मानवजाति को सबसे बड़ा खतरा विज्ञान की ओर से ही है, इसलिये विज्ञान के क्षेत्र की विद्यारहीनता धर्म में वैज्ञानिक विद्यारहीनता से कम खतरनाक नहीं होगी।

सद्याई है यह कि हर देश-काल में आदमी की सबसे बड़ी जरूरत विद्यारहीनता के विरुद्ध संघर्ष की है। विद्यार की पहली शर्त है दृष्टि। दृष्टि को सबसे बड़ी बाधा है एकतरफापन। धर्म, विद्यारधारा अथवा साहित्य-एकतरफापन जहाँ भी हो, विकृति उत्पन्न करेगा जरूर, क्योंकि एकतरफापन आदमी को काना बनाता है। इसलिये हमें चाहिये कि साम्रदायिकता के तत्वों की खोज में सिर्फ हिन्दुओं या हिन्दू धर्मग्रन्थों अथवा महाकाव्यों की तरफ ही रुख न रखें। आदमी को घारों तरफ देखना जरूरी है। खाय तौर पर तब, जबकि सकट के बादल कही एक ही दिशा नहीं, बल्कि घारों तरफ से उमड़ रहे हों।

धारणा गलत हो सकती है, लेकिन इस बात को लेकर उद्धिनता है जरूर कि धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता, साहित्य, सम्कृति और राज्यव्यवस्था के सवालों को लंकर हमारे आधिकाश लेखक-विद्यारक उदासीन हैं और बहस में बचना चाहते हैं। नतीजा है यह कि धर्म, भाषा और संस्कृति या राष्ट्रीयता- जैसे मुद्दा पर भी निर्णायिक शक्तियाँ का दर्जा उन राजनेताओं को मिल गया है, जिनके लिये य मानव समाज के कल्याण नहीं बल्कि खुद की गद्दी के लिये इस्तेमाल की वग्नुँ है। लेकिन अफगान कि हमार अनेकानेक प्रकाण्ड बुद्धिजीवियों को तक वाल्मीकि और तुलगीदाम ता भारतीय संस्कृति के लिये खतरनाक

दिखाई पड़ रहे हैं, लेकिन वो राजनेता नहीं, जिनके लिये सस्कृति का लगभग वैसा ही महत्व है, जैसा घील के लिये गोश्त का ।

आप वरिष्ठ और प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। आपके पत्र का इतने विस्तार से जवाब देने को अहममन्यता भी माना जा सकता है, लेकिन आपके उदार स्वभाव को देखते क्षम्यता की 'गारण्टी' अनुभव कर सकता हूँ। आदमी वही ज्यादा कहता है, जहों ऐसी गुजाइश हो ।

सानन्द होंगे ।

आपका
शैलेश मटियानी

सेवा मे,
श्री विष्णु प्रभाकर जी,
ट१ट, कुण्डेवालान घौक, अजमेरी गेट, दिल्ली ।